रस और आनन्द



सम्पादक

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

रस और आनन्द



हनुमानप्रसाद पोद्दार

Ras Aur Anand

by

Hanuman Prasad Poddar

प्रकाशक

गीतावाटिका प्रकाशन

(पद-रत्नाकर सेवा शोध संस्थानका प्रकल्प)

पो०—गीतावाटिका, गोरखपुर-२७३००६

फोन : (०५५१)२२८४७४२, २२८२१८२

e-mail : rasendu@hotmail.Com

प्रथम संस्करण—श्रीराधाष्टमी जन्मोत्सव सं० २०६३ वि०

मूल्य : तीस रुपये

नम्र निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि धर्म-संस्थापन उनका अपना कार्य है। इसके लिये वे कभी स्वयं अवतरित होते हैं और कभी अपनी विशिष्ट विभूतियोंको भेजते हैं। श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ऐसी ही अलौकिक विभूतियोंमेंसे थे जो भगवान्के विशेष कार्य हेतु इस धराकी यात्रापर आये थे। इस सम्बन्ध में श्रद्धेय भाईजीके प्रति पूज्य श्रीराधाबाबाके भाव भरे उद्गार इस प्रकार हैं—

'धार्मिक ग्लानि और ह्रासको दूर करनेके लिये धर्म-प्रचारका जो कार्य आदि शंकराचार्य-रामानुजाचार्य जैसे आचार्यों द्वारा हुआ, जन-जनके आचार-विचार-व्यवहारको नियन्त्रित सुसंस्कृत करनेके लिये समाज-जीवन सम्बन्धी प्रश्नोंपर व्यवस्था देनेका जो कार्य मनु-याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों द्वारा हुआ, हृदयकी कोमल भक्ति-भावनाओंके तरंगित हो उठनेपर भक्ति-काव्यकी रचनाका जो कार्य तुलसीदास-सूरदास जैसे भक्त कवियोंद्वारा हुआ और श्रीराधा-माधवके लीला-सिन्धुमें, नित्य-सिन्धुमें नित्य-निरन्तर निमग्न रहनेके आदर्शकी प्रतिष्ठाका जो भी कार्य मीराबाई, चैतन्य महाप्रभु जैसे रसिकजनों द्वारा हुआ—इन चारों कार्य धाराओंके अद्भुत संगमका पावन दर्शन श्रीपोद्दारजीके विशाल व्यक्तित्वमें होता है।'

एक संतने कहा है—'श्रीभाईजी जैसी विभूतियाँ युगो-युगोंमें इस धरापर आती हैं। उनकी स्थिति अनिर्वचनीय है।'—'इन्द्रिय-मन-मति—सभी हो गये श्यामरूप बनकर अति धन्य'। श्रीभाईजी मनसा-वाचा-कर्मणा लोगोंको भगवत्पथपर अग्रसर करने हेतु अहर्निश प्रयत्नशील रहते थे। उनकी ओजस्वी वाणी लोगोंको बरबस आकर्षित करती थी जिससे लोग उनसे कुछ सुननेके लिये लालायित रहते थे। उनकी वाणी भगवदीय वाणी है—'मेरे द्वारा बोल रहे हैं केवल मेरे वे भगवान्' और 'तुमने जो कहलाया मुझसे, वही कहा मैंने अविकल'।

ऐसे अप्रतिम संतके मुखारविन्दसे नि:सृत वाणीको पुस्तकाकार रूपमें करनेके लिये श्रद्धालु साधकों और प्रेमीजनोंका बहुत वर्षोंसे निरन्तर आग्रह था। भगवत्प्रेरणासे यह कार्य चल रहा है और अबतक ब्रजभावकी उपासना, प्रभुको आत्मसमर्पण, भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर बाललीलायें, वेणुगीत, रासपंञ्चाध्यायी और यज्ञ-पत्नियोंपर कृपा आदि कथा-प्रसंगोंके प्रवचन प्रकाशित हो गये हैं

जिन्हें श्रद्धालुजनोंने बड़े उत्साहसे अपनाया है। श्रीभाईजीके इन प्रवचनोंका यह लिपिबद्ध रूप आपके हाथमें है। इसमें व्रजरस, ज्ञान, भक्ति, परमार्थ और व्यावहारिक सिद्धान्तकी बातें सरल, सरस और हृदयस्पर्शी भाषामें वर्णित है जो पारमार्थिक मार्गपर अग्रसर करनेके साथ-साथ रस और आनन्दकी अनुभूति करायेंगी, ऐसा हमारा विश्वास है। इन प्रसंगोंको लिपिबद्ध करनेका श्रेय हमारे श्रीबृजदेवजी दूबेको है।

इस संग्रहमें जो त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होंगी वह हमारी अल्पज्ञतावश है जिन्हें ध्यान दिलानेपर सुधारनेकी चेष्टा की जायेगी। और अन्तमें, अपनी त्रुटियों—भूलोंके लिये श्रीभाईजीसे करबद्ध क्षमा-याचना करते हुए यही निवेदन है—'वस्तु तुम्हारी तव चरणोंमें अर्पण कर कर रहा प्रणाम'।

—प्रकाशक

******

विषय सूची

******

॥ श्रीहरिः ॥

रस और आनन्द

रस और आनन्द

प्रेमके सम्बन्धमें एक बात बार-बार दुहरायी जानी चाहिये कि प्रेममें स्वसुखवाञ्छाकी कल्पना नहीं होती है। प्रेमके लिये यह सर्वप्रथम शर्त है। इस सम्बन्धमें एक बहुत सुन्दर निकुञ्जलीलाकी घटना है—एक बार भगवान् श्यामसुन्दर निकुञ्जमें कोमल किसलय एवं कुसुमकी शय्यापर शयन कर रहे थे। एक प्रेमवती गोपी अपने शृंगारसे, अपनी शोभासे भगवान्को सुखी बनानेके लिये वहाँ गयी। उस समय भगवान् श्रीकृष्णको नींद आ रही थी। उनकी आँखें बंद हुई जा रही थीं। आँखें जरा-जरा-सी कभी खुलती फिर बंद हो जातीं। उस गोपीने शृंगार अपने सुखके लिये न करके इस भावसे किया था कि श्यामसुन्दर इसे देखकर सुखी हों। इसी लालसासे वह उनके पास गयी कि एक बार उनकी आँख खुल जाय और वे देख लेंगे तो उनको सुख होगा। इसके लिये उसने कमलके परागकणोंको लेकर इस प्रकार उड़ाया कि कोई परागकण उनके नेत्रोंपर जा पहुँचे तो उनको कष्ट भी न हो और नेत्र भी खुल जायँ ताकि श्यामसुन्दर उसे देख लें। इतनेमें ही वहाँ राधारानी आ गयीं। उनके यह पूछनेपर कि 'क्या कर रही हो?' गोपी बोली—'कमलके परागकणोंको उड़ा रही थी ताकि ये श्यामसुन्दरके नेत्रोंपर गिर जायँ, उनकी आँख खुले और वे एक बार मेरी इस शोभाको देखकर सुखी हो जायँ।' राधाजीने कहा—'उनको सुखी देखकर तुमको सुख होगा न!' वह बोली—'हाँ!' फिर राधाजीने कहा कि 'उनकी नींदके व्यवधानसे तुमको सुख होगा क्या?' इसपर गोपी चुप हो गयी। फिर राधाजीने कहा कि 'तुम उनको सुख देनेहेतु उनकी नींदमें विघ्न डालकर सुखी होना चाहती हो न! इसमें तो तुम्हारा प्रेम नहीं, काम है।' गोपीके मनमें जरा-सा भी स्वसुखकी कामनाका संज्ञान नहीं था, परंतु वह भगवान्की

नींदमें विघ्न करना चाहती थी—अपने श्रृंगारको दिखाकर उनको सुखी करनेके लिये। यह जो 'अपना श्रृंगार' है, इसमें स्वसुखकी कामना छिपी थी, इसीलिये राधाजीने टोक दिया। इतना ऊँचा है उनका भाव! रासपञ्चाध्यायीमें आया है कि गोपियाँ कहती हैं—भगवन्! जब आपके चरणकमल हमारे वक्ष:स्थलपर आते हैं, उस समय हमें बहुत सुख होता है, साथ ही दु:ख भी होता है कि कहीं आपको आघात न लग जाय। आपके वही चरणकमल जब काँटों और कुशोंके जंगलमें पड़ रहे हों तो हमें कैसे सहन हो सकता है? इस प्रकार जहाँ अपना सुख है वहाँ भी अपने सुखकी अपेक्षा उनके दु:खकी चिन्ता अधिक है और कहीं अपना सुख उनके सुखका बाधक न हो जाय, यह भाव सच्चे प्रेममें होता है। यद्यपि अपना सुख उनको सुखी बनानेमें ही है। गोपी, जो अपना श्रृंगार भगवान्‌को दिखाकर उनको सुखी होते देख, सुखी होना चाहती है, इसमें प्रधान उनका सुख ही है। परंतु इस समय वे सो रहे हैं। अपना सुख तो तब मिलेगा जब वे जग जायँगे, उनकी नींद टूट जायगी, तब वे देखेंगे और सुखी होंगे तथा उनको सुखी होते देखकर हमें सुख होगा; परंतु इसके पहले अपने सुखके लिये उनके सुखमें वह विघ्न डाल रही है। इस प्रकारका विघ्न भी प्रेममें बाधक होता है। इस तरहकी वाञ्छा भी प्रेमराज्यमें नहीं होती है, इसमें तो त्यागकी पराकाष्ठा रहती है।

प्रेम शब्द बहुत सरल है और मीठा भी लगता है, परंतु प्रेममें पहले तीक्ष्णता और कटुता महसूस होती है। उस तीक्ष्णता और कटुताको कोई मीठा बना सके तब तो प्रेम परम मधुर है; क्योंकि उसमें केवल त्याग-ही-त्याग है, अपनेको सर्वथा खो देना है। प्रेमका अधिकारी वही होता है जो सर्वथा अनधिकारी होता है अर्थात् जिसके अंदर प्रेमके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारकी चेष्टा करनेकी सामर्थ्य नहीं रह जाती है। त्यागके बिना, त्यागकी भूमिकाके बिना प्रेमका फल कभी लगता ही नहीं है। प्रेममें जरा-जरा-सी बातमें, यह स्वाभाविक रूपमें देखा जाता है कि कहीं इस क्रियामें निज-सुखका कोई लेश तो नहीं है, इसमें कहीं प्रियतमके सुखमें किसी प्रकारकी बाधा तो नहीं है? इसी एक उद्देश्य—लक्ष्यको लेकर प्रेमीका जीवन बनता है। प्रेमास्पदकी रुचि और प्रेमास्पदका सुख ही प्रेमीके जीवनका स्वरूप है। प्रेमास्पदके सुखके लिये वह कुछ परिश्रम करता है, साधन

करता है, ऐसी बात नहीं। साधन-साध्य दूसरी चीज है। प्रेममें तो साधन नहीं समर्पण होता है और समर्पित होकर प्रेमास्पदको सुख पहुँचाना होता है। गोपीका अर्थ है केवल भगवान्‌का सुख। यह जो भगवान्‌का सुख है, इसीको चाहे हम गोपी प्रेम कहें या दूसरी भाषामें गोपियोंका काम कह दें। गौतमीय तन्त्रमें बताया गया है कि 'गोपियोंके प्रेमका नाम ही काम है। काम होनेपर भी असलमें वह काम नहीं किंतु शुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव-सरीखे महात्मा इसी 'काम' नामक प्रेमकी अभिलाषा करते हैं।' यहाँ काम शब्दसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं कहा है—'**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥**' (गीता ७। ११) अर्थात् सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल जो काम है वह मैं हूँ। उपनिषद्‌में आता है कि भगवान्‌ने कामना की '**सोऽकामयत्**' (तैत्ति० २। ६। ४), '**एकोऽहं बहु स्याम्**' मैं एक बहुत बन जाऊँ, क्योंकि अकेलेमें खेल नहीं होता है—'**स एकाकी न रमते**' (महोप० १)। वहाँ काम शब्द भी है, रमण शब्द भी है, परंतु काम एवं रमण शब्दका अर्थ बुरा नहीं है। इसलिये इन शब्दोंको लेकर डरनेकी आवश्यकता नहीं है। लोग कहते हैं कि हम मोक्षकामी हैं। इसमें भी काम शब्द आता है। इसलिये काम शब्दकी कोई बात नहीं, अपितु यह देखना है कि वह काम है क्या? 'भगवान्‌का सुख—कृष्ण-सुख', यह गोपियोंका नित्य-नित्य काम है। गोपियाँ चाहती हैं कि हमारे इस कामका कभी भी किसी भी कालमें नाश न हो। गोपी यदि अपने कामका नाश चाहे तो वह गोपी न रहकर नीचे गिरकर कुछ और बन जायगी। कृष्ण-सुखकाम ही गोपीका स्वभाव है। कृष्ण-सुखकाम उसका जीवन है। उसका तन, उसका मन, उसकी बुद्धि, उसकी इन्द्रिय उसके सारे कर्म—ये सभी न किसी कर्तव्यनिष्ठाको जानते हैं, न धर्मनिष्ठाको जानते हैं और न ही किसी प्रकारकी वासना रखते हैं, वे केवल जानते हैं श्रीकृष्ण-सुखकामको अर्थात् श्रीकृष्ण सुखी कैसे हों? अब यहाँ एक विचित्र प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रीकृष्ण सुखी कैसे हों? इस प्रश्नका उत्तर प्रेमराज्यके अलावा अन्यत्र कहीं है ही नहीं। जो स्वयं परमानन्द हैं, जो आनन्दके अगाध समुद्र हैं, समस्त आनन्द जिनसे निकलता है, जो समस्त आनन्दके मूल स्रोत हैं, जिनके आनन्दको ही लेकर जगत्‌में आनन्द आता है, उन भगवान्‌में किसी सुखका अभाव हो, वे भगवान् कोई सुख

चाहें और उनको सुख दिया जाय, ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती। परंतु प्रेमराज्य या प्रेमदर्शनमें ऐसा होता है। यदि न हो तो रूखे-सूखे भगवान् भाव-जगत्‌की वस्तु रहें ही नहीं। यदि उनका आनन्द इस प्रकारसे आनन्दके साथ आनन्द न करना चाहे और उनकी ह्लादिनी शक्ति—आनन्दरूपिणी शक्ति उन्हें आनन्द देनेमें प्रवृत्त हो तथा वे इसका आनन्द न लें तो उनका स्वरूपभूत जो आनन्द है वह रूखा-सूखा रह जायगा। स्वरूप यथावत् रह सकता है, परंतु रस नहीं रहता। इसलिये भगवान्‌ने स्वयं अपने-आपसे ही रमण करनेके लिये यह विधान किया और एकसे दो बने, फिर अनेक बने तथा अनेक बनकर इस रसका प्रवाह बहाया। यह सब उस आनन्दमें है, उसी आनन्दसे निकला है और उसी आनन्दमें इसका पर्यवसान है। भगवान्‌का आनन्द पहले नहीं था अब बना है—ऐसी बात नहीं है।

आनन्दकी वृत्ति ही प्रेम है। प्रेम कभी बनाया गया या कभी बनेगा अथवा किसीने इसका निर्माण किया—ऐसी बात नहीं है। यह प्रेम भगवत्स्वरूप है। प्रेम भगवान् है, भगवान् प्रेम हैं। जहाँ-जहाँ त्याग होता है, वहाँ-वहाँ प्रेमका प्राकट्य होता है तथा जहाँ-जहाँ प्रेम होता है, वहाँ-वहाँ आनन्द आता है। कहीं भी, कभी भी द्वेषमें, विरोधमें, वैरमें आनन्द नहीं पैदा होता है, बल्कि वहाँ चारों तरफ जलन और आगका समूह पैदा होता है। एक त्याग ही ऐसी वस्तु है, जिससे प्रेम होगा और जहाँ प्रेम होगा वहीं सुख होगा। लड़ते हुए व्यक्तियोंमें यदि प्रेम पैदा हो जाय तो वे सुखी हो जाते हैं और कहते हैं कि हमारा प्रेमभाव हो गया, अब बड़ा आनन्द है। प्रेम आनन्दका जनक है। अतएव जहाँ भगवान्‌का आनन्द है, जहाँ भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, वहाँ आनन्द प्रेमके बिना विकसित नहीं होता है। इसलिये उस आनन्दके विकासके लिये, विस्तारके लिये, प्रकाशके लिये प्रेमकी लीला आवश्यक होती है। इसी हेतु भगवान्‌की प्रेम-लीला अनादिकालसे चल रही है और अनन्तकालतक चलती रहेगी। समस्त जीवनमें प्रेमकी लीला है। माताके हृदयका वात्सल्य, मित्रके हृदयका सख्य, पत्नीके हृदयका माधुर्य, पतिके हृदयका प्रेम, पुत्रके हृदयकी भक्ति—ये सब भगवान्‌के प्रेमके विभिन्न रूप हैं। ये अगर न रहें तो जगत् शुष्क हो जायगा। यदि पुत्रको माँका प्रेम न मिले, पति-पत्नीको परस्पर माधुर्य-प्रेम न मिले, मित्रको मित्रका प्रेम न मिले, माता-पिताको पुत्रकी भक्ति न मिले तो यह जगत् भयानक

हो जायगा। कल्पना करें कि यदि सभी माताओंके मनसे स्नेह निकल जाय, सभी दम्पतियोंके हृदय स्नेहविहीन हो जायँ, सभी गुरुओंके हृदयसे शिष्योंके प्रति वात्सल्य दूर हो जाय, गुरु-भक्ति, मातृ-पितृ-भक्ति मिट जाय अर्थात् ये भक्ति, प्रेम, स्नेह, रति, प्रीति अगर जगत्में न रहें तब तो जगत्में खा जानेवाले राक्षस ही रहेंगे।

इसलिये प्रेमकी बड़ी आवश्यकता है। यही प्रेम जब कहीं पुञ्जीभूत होकर, मूर्तिमान् होकर प्रकट हो जाता है, तब उस प्रेमका नाम होता है गोपी तथा उन गोपियोंका सारा प्रेम जहाँ पुञ्जीभूत है उसका नाम है श्रीकृष्ण। **'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानाम्'**—गोपाङ्गनाओंका जो पुञ्जीभूत प्रेम है वही श्रीकृष्ण है और श्रीकृष्णके प्रति जो हृदयकी आत्यन्तिक त्यागमयी, समर्पणमयी आसक्ति है, उसीका नाम गोपी-प्रेम है। दार्शनिक भित्तिपर इसका बड़ा ऊँचा स्थान है। इसमें समस्त अपवित्रताका नाश हो जाता है, क्योंकि जो भी अपवित्रता आती है वह सभी भोग-कामनाके कारण होती है। प्रेममें भोग-कामनाका सम्पूर्ण त्याग हो जाता है, क्योंकि इसमें स्वसुख है ही नहीं। भोग अपना होता है और उसे दूसरेको दे देते हैं इसलिये उसका नाम भोग नहीं हुआ, वह तो दान हुआ, सेवा हो गयी। किसी भूखेको अपने पासकी स्वादिष्ट मिठाई दे दी तब तो यह सेवा हुई और यदि जीभके स्वादके लिये उसको खा लिया तब यह भोग हो गया। अतः स्वसुखवाञ्छाको लेकर जो कुछ भी हम करते हैं वह भोग है और उसीको भगवान्को समर्पित करके यदि हम प्रसन्न होते हैं तो यह प्रेम है। घरकी कोई चीज, हमारे मनकी, जीवनकी कोई चीज जबतक अपने सुखके लिये है, तबतक वह भोग है और जबतक भोग है, तबतक दुःख पैदा होता रहेगा, यह नियम है। जबतक उन भोगोंका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध है, तबतक वे भोग बने रहेंगे और दुःख भी रहेगा, इसलिये बुद्धिमान् लोग भोगोंमें नहीं रमते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

अपने इन्द्रियोंके साथ जिनका सम्बन्ध होनेपर हमें सुखकी प्रतीति होती है अथवा स्वसुखकी इच्छासे ग्रहण किये जानेवाले पदार्थ ही भोग हैं और इनका परिणाम है—**'दुःखयोनयः'** ये दुःखकी योनि हैं अर्थात् इनसे

दुःख उत्पन्न होता है। ये दुःख आद्यन्तवन्त हैं अर्थात् आदि-अन्तवाले हैं। इसलिये बुद्धिमान् लोग इन भोगोंमें नहीं रमते हैं, न ही इनसे प्रीति करते हैं। परंतु ये ही सारे भोग जब स्वसुखकी वाञ्छाका परित्याग करके परसुखके लिये अर्पित हो जाते हैं, तब ये भगवान्की सेवा बन जाते हैं। जैसे हलवा हो और यदि उसे हम अपनी जीभके स्वादके लिये खायें तो भोग और यदि वही भगवान्की सेवा-भावनासे जिसको आवश्यकता हो उसे खिला दें तो वह सेवा बन जाता है, प्रेम बन जाता है। जहाँ स्वसुखकी वाञ्छा होगी वहीं हलवा भोग बनेगा और भोग है तो वह दुःखयोनिका हेतु बनेगा ही।

इस प्रकार गोपियोंका प्रेम स्वसुखवाञ्छारहित होनेके कारण आगे चलकर विशेषतासे युक्त हो जाता है। प्रतिदान करते-करते अपने सुखकी सामग्री दूसरेको देते-देते या भगवान्को सौंपते-सौंपते वे अपने-आपको भूल जाती हैं। तब स्वसुखकामनारहित होकर भगवान्को अर्पण करके भगवत्सुखार्थ स्वयं ग्रहण करना भी त्याग हो जाता है, सेवा हो जाती है, प्रेम हो जाता है। इसके परीक्षणमें कठिनता होती है। जैसे हम हलवा खा रहे हों और उस हलवेका स्वाद हमें आ रहा है, उस स्वादमें सुख मिल रहा है, अब यहींपर स्वसुखकी इच्छा है या प्रेमास्पदके सुखकी इच्छा है, इसका परीक्षण होता है और यह वही कर सकता है जो इस अवस्थातक पहुँचा हो। साधारणजन इसका भेद नहीं कर सकते हैं। इस प्रकारकी परिस्थितिमें प्रेमीको स्वादका सुख तभी प्राप्त होता है जब प्रेमास्पदको सुख हो। स्वाद अपनेको आता है परंतु अपनेको वह स्वाद इष्ट नहीं। यदि प्रेमास्पदको उसमें सुख नहीं है तो सुख नहीं मिलेगा। यदि हलवा खाते-खाते और उसकी मिठास ग्रहण करते हुए यह मालूम हो गया कि वे तो चाहते थे कि तुम नीम खाओ और हमने हलवा खा लिया तो प्रेमीके लिये वह हलवा नीमसे ज्यादा खारा बन जायगा। वह पश्चात्ताप करेगा कि मैंने यह क्यों खा लिया यह तो प्रेमास्पदके सुखकी वस्तु नहीं है। परीक्षा यही होती है कि अपने लिये खाता है या प्रेमास्पदके लिये। यही बात कपड़े पहननेमें, सोने-जगनेमें, व्यापार-व्यवहारमें, जीने-मरनेमें तथा जीवनकी प्रत्येक क्रियामें परिलक्षित होगी। यदि प्रेमी जीवित है और उसे मालूम हो गया कि प्रेमास्पद मरनेको हैं तो उसे जीवन बुरा लगने लगेगा और वह चाहेगा कि अभी मर जाऊँ। इस प्रकार जब स्वसुखकी वाञ्छाका सर्वथा परित्याग करके केवल प्रेमास्पदके

सुखके लिये ही जीवन धारण होता है तभी यथार्थ प्रेम होता है। इसके परिणामस्वरूप स्वतः ऐसी प्रवृत्ति बन जाती है कि मनके द्वारा प्रेमास्पदके लिये सभी चेष्टाएँ होती रहती हैं और होते-होते जब उच्चतम स्थिति आती है तो मनकी चेष्टाएँ भी नहीं होती हैं, क्योंकि प्रेमास्पदका मन प्रेमीके मनमें आ विराजेगा। इसी बातको भगवान्ने गोपियोंके प्रति कहा है कि मेरे मनोगत भावोंको केवल गोपियाँ जानती हैं और कोई नहीं—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

(आदिपुराण)

अर्थात् हे अर्जुन! मेरा माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं और कोई नहीं जानता। भगवान्ने देख लिया कि गोपियोंका मन इस प्रकारका है कि अपने लिये कुछ चाहता ही नहीं है।

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

(रा०च०मा० २। १३१)

जब भगवान् देखते हैं कि यह मन बिलकुल खाली है, यह कुछ नहीं चाहता है तब उस मनको, अपने मनको बसानेके योग्य मान लेते हैं, फिर उनका मन वहाँ आकर बस जाता है जिसके परिणामस्वरूप वह मन प्रेमीका न होकर भगवान्का हो जाता है। इससे प्रेमीका जीवन अपने लिये रहता ही नहीं है। उसे जीनेकी इच्छा नहीं मरनेका डर नहीं। जिनको अपने लिये कुछ करना हो, इस लोकके लिये, परलोकके लिये, भोगके लिये, मोक्षके लिये उनको जीवनकी स्पृहा होती है। परंतु प्रेमीके लिये तो जीवनकी स्पृहा ही नहीं। उसका कोई काम अपना बचा ही नहीं है। प्रेमीके जीवनको भगवान् अपने प्राणोंसे अनुप्राणित करके जिलाते रहते हैं। भगवान्का मन उसका मन बनता है। भगवान्के प्राण उनके प्राण बनते हैं। इस बातको भगवान्ने स्पष्टतः स्वीकार किया है—

'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।'

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४)

भगवान्ने कहा कि ये जो गोपाङ्गनाएँ हैं, उनके पास उनका मन

नहीं है, वे मेरे मनवाली हैं और मेरे प्राणोंवाली हैं। उनके मन और प्राण अपने नहीं बल्कि अपने परमप्रेमास्पद श्यामसुन्दरके हो गये हैं। जब श्यामसुन्दरका मन उनका मन और उनके प्राण ही अपने प्राण हो गये तब स्वाभाविक रूपसे क्या कोई काम उनका अपना रहा? अपने काम तो उनके मन और प्राण बदलनेके पहले ही भगवान्‌के लिंये परित्यक्त हो चुके। उनका सारा कार्य भगवान्‌का ही होता है। उनके जीवनकी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌का ही काम होती है।

इसी प्रकार प्रेमीका जीवन प्रभुके सुखका जीवन बन जाता है। यदि कभी प्रेमीके जीवनमें निज सुखकी वाञ्छा जाग्रत् हो जाय तो वहाँ प्रेम नहीं रहेगा। यद्यपि यह हो सकता है कि इस प्रकारकी किसी क्रियासे अगर उनको सुख होगा तब वह क्रिया तो हो जायगी, परंतु उस क्रियामें निजसुखवाञ्छाका लेश नहीं रहेगा, तथापि निजसुखवाञ्छा आ गयी तो प्रेममें विकृति हो जायगी। तब तो प्रेमका जो पवित्र स्वरूप है वह स्खलित हो गया, मूलरूपमें रहा नहीं। प्रेमी तो अत्यन्त प्रशान्त होता है, क्योंकि उसकी जितनी भी तरंगे कामवासनाकी होती हैं वे शान्त हो जाती हैं और प्रेमका अगाध समुद्र प्रशान्त भावसे उसके जीवनमें स्थिर हो जाता है। तत्पश्चात् उसमें जो ऊर्मियाँ उठती हैं, लहरें उठती हैं, तरंगे उठती हैं वे प्रेमास्पदको देख-देखकर, जिस प्रकार पूर्णचन्द्रको देखकर समुद्र नाचने लगता है, उसी प्रकार भगवान्‌के श्रीमुखको देखकर उनके सुखार्थ प्रेमसमुद्रमें ये तरंगे उठती हैं। वे तरंगे प्रेमका रूप हैं और यह क्रिया ही प्रेमलीला है। प्रेमसमुद्रके तरंगोंके अतिरिक्त न तो गोपियोंकी कोई क्रिया है और न ही भगवान्‌की कोई क्रिया। वह तो प्रेमसमुद्रका उच्छ्वास है। प्रेमकी वे उद्वेलित तरंगे नाच-नाचकर प्रेमका रसास्वादन अधिक-से-अधिक करवाया करती हैं। वे तरंगे कभी उत्ताल होती हैं, कभी शान्त होती हैं, कभी उछलती हैं, कभी नाचती हैं, कभी दायें होती हैं और कभी बायें होती हैं। प्रेममें दो भाव मान सकते हैं—दक्षिण और वाम। ये सब रसकी बातें हैं। दक्षिण भावसे तथा वाम भावसे अलग-अलग लीलाएँ होती हैं और इनमें परस्पर भी लीलाएँ हुआ करती हैं। श्रीराधाजी और गोपियोंका वाम भाव होता है, वहाँ श्रीकृष्ण उन्हें मनाया करते हैं तथा जब श्रीकृष्णका वाम भाव होता है तब श्रीगोपाङ्गनाएँ और श्रीराधारानी उन्हें मनाया करती हैं। इनमें कभी एकात्मता हो जाती

है और कभी प्रेम-वैचित्य हो जाता है। प्रेम-वैचित्यका अर्थ है कि सांनिध्यमें रहते हुए भी पास रहनेका विस्मरण हो जाना। चैतन्य महाप्रभु इस रूपमें अठारह वर्ष रहे। उनको पलभरमें ऐसा लगता था कि श्यामसुन्दर आ गये तो हँसने लगते, फिर थोड़ी ही देरमें ऐसा लगने लगता कि वे चले गये तब आँसुओंकी धारा बहने लगती, फूट-फूटकर रोने लगते। सिरको दिवालसे टकराने लगते, खून बहने लगता और कहने लगते कहाँ गये श्यामसुन्दर, हा! श्यामसुन्दर! इस प्रकार वियोग और संयोगकी ये तरंगे इस प्रेम-समुद्रमें उठा करती हैं। इसका वर्णन कोई नहीं कर सकता, क्योंकि इस प्रेमसमुद्रके तटपर जो खड़ा है, वह सम्पूर्ण लहरोंको देख नहीं सकता और जो इन लहरोंमें गिर गया वह लहर ही बन गया। इसीलिये कहा है—'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्**' (ना०भ०सू० ५१)। अर्थात् प्रेमके स्वरूपका वर्णन नहीं किया जा सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि वे एक दूसरेको भूलकर एक दूसरे बन जाते हैं। भूल जाते हैं कि मैं कौन हूँ। श्रीकृष्ण कभी राधाके आवेशमें आकर हा श्यामसुन्दर! हा श्यामसुन्दर! करने लगते हैं और राधा कभी श्रीकृष्णके आवेशमें हा राधे! हा राधे! करने लगती हैं। यह सब प्रेम-समुद्रकी पवित्रतम मधुर-मधुर तरंगे हैं और जहाँ समुद्र है वहाँ ऐसी तरंगे नित्य उठा करती हैं। इसलिये जहाँ प्रेम नित्य है, आनन्द नित्य है, वहाँ भगवान्‌की प्रेमलीला भी नित्य है।

कभी-कभी किसी युगमें जब कुछ संत ऐसे होते हैं जो प्रेमलीलाका दर्शन करना चाहते हैं, तब उनकी प्रीतिसे प्रेरित होकर भगवान् अपने सारे धामको, परिकरोंको, सखाओंको, सखियोंको, वहाँके वृक्ष-लताओंको, पशु-पक्षियोंको, जो दिव्य और चिन्मय हैं, लेकर इस भूमिपर अवतरित होते हैं और आकर इस भूमिको पावन करते हैं। वृन्दावनकी लीला, भगवान् राघवेन्द्रकी अवधलीला, ये सब भगवान्‌की प्रेमतरंगे हैं। इन प्रेमतरंगोंमें अवगाहनके लिये सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि स्वसुखवाञ्छाका त्याग हो। अगर यह बात नहीं रहती है तो प्रेमके मार्गमें किसीको नहीं आना चाहिये, क्योंकि जहाँ निजसुखकी वाञ्छा रहेगी वहाँ प्रेममें कलंक पैदा हो जायगा। त्यागकी पराकाष्ठा होनेके कारण ही वैष्णवोंने प्रेमको पञ्चम पुरुषार्थ कहा है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त पञ्चम पुरुषार्थ है प्रेम या भगवत्प्रेम अथवा भगवत्-रति। इसमें मोक्षकी कामनाका

परित्याग करनेकी भी तैयारी हो जाती है। मोक्षमें भी स्वाभाविक रूपसे अहंके मङ्गलकी आकांक्षा है। जहाँ मोक्षका कोई स्वारस्य है वहाँ बन्धनकी अपेक्षा है। बन्धन न हो तो मोक्ष शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं। छुटकारा किसका? बँधे हुएका। जो बँधा है वही छुटकारा चाहता है। इसलिये अपने बन्धनकी अनुभूति और उससे मुक्त होनेकी इच्छाका नाम मुमुक्षा है। मुमुक्षा शब्दका अर्थ ही है मोक्षकी इच्छा, छुटकारेकी इच्छा। छुटकारेकी इच्छामें बन्धनकी अनुभूति है और बन्धनकी अनुभूति जिसे हैं उसका नाम जिज्ञासु, साधक, मुमुक्षु, भगवत्प्रीतिकी इच्छावाला रखे या भक्त रखे, कुछ भी रखे परंतु वहाँ कोई एक है जो बन्धनका अनुभव करता है और इससे छूटनेकी इच्छा करता है। इस बन्धन और मोक्षकी कल्पनाका भी परित्याग करके केवल प्रेमास्पदके सुखकी कल्पना और कुछ भी अंगीकार न करना ही प्रेमको पञ्चम पुरुषार्थ बनाता है। इसलिये यह मोक्षसे भी आगेकी चीज है। गीताके अन्तिम अध्यायका नाम है—'मोक्ष-संन्यास-योग' अर्थात् जहाँ मोक्षका भी संन्यास हो जाय और ऐसा हुआ भी। यदि महाभारतको सत्य मानते हैं तो इसकी सभी बातोंको सत्य मानना होगा और यह भी मानना पड़ेगा कि गीताके अर्थको जितना अर्जुनने समझा होगा, उतना हम नहीं समझते, क्योंकि स्वयं भगवान्‌ने साथ बैठकर समझाया। अन्य सभी तो उसकी व्याख्या करते हैं, टीका करते हैं, अर्थ करते हैं। भगवान्‌ने सामने बैठाकर यह कहकर समझाया कि तुम मेरे बहुत प्रिय हो और अन्तमें पूछा भी यही कि समझ गये या नहीं, क्या तुम्हारा मोह नष्ट हो गया, गीता पूर्ण हुई। इसके उपरान्त भी जब अर्जुनका मोह नष्ट नहीं हुआ तब क्या नये व्याख्याकारोंका मोह नष्ट हो जायगा—यह मान्य नहीं है। जिस अर्जुनको स्वयं भगवान् कहते हैं कि तुम मेरे इष्ट हो, मैं तुम्हारे लिये गीता कहता हूँ, कहनेके बाद पूछ भी लेते हैं कि मोह नष्ट हुआ कि नहीं? अर्जुन कहते हैं—'हो गया।' यह नहीं होता तो अन्तर्यामी भगवान् कहते कि भूलसे कह रहा है। इसलिये यह सिद्ध हो गया कि मोहका नाश हो गया। ऐसे उस अर्जुनकी क्या गति होती है महाभारतमें? स्वर्गारोहणपर्वमें जब सभी पाण्डव दिव्य लोक चले जाते हैं तब युधिष्ठिर भगवान्‌के पास पहुँचते हैं और देखते हैं कि भगवान्‌का दिव्य दरबार है, दिव्य आसन है, उसपर भगवान् श्रीकृष्ण एवं परात्पर ब्रह्म नारायण विराजमान हैं। वहाँ भगवान्‌के

आयुध और आभूषण भी मूर्तिमान् होकर सेवा कर रहे हैं और उन्हींमें अर्जुन भी सेवा कर रहे हैं। युधिष्ठिरने अर्जुनको पहचान लिया कि सेवामें लगे हैं। अर्जुनको भगवान्की नित्य सेवा मिली, छुटकारा नहीं मिला, मोक्ष नहीं मिला, सायुज्य मुक्ति नहीं मिली। अर्जुन भगवान्के शरणागत हुए, मोहका नाश हुआ। भगवान्ने कह दिया कि तुम मेरे सेवक थे, सेवक रहोगे, इस शरीरके बाद भी सेवक होगे। बस! हो गया काम। मोक्षका भी संन्यास हो गया इसमें; इसलिये मोक्ष-संन्यास योग है। इसका असली अर्थ क्या है? मालूम नहीं, परंतु यह अपने मनकी व्याख्या है, हृदयका उद्गार है, माननेका आग्रह नहीं है।

इस प्रेममें मोक्षका संन्यास होता है, क्योंकि जहाँतक मोक्षकी इच्छा है, कल्पना है वहाँतक बन्धनकी अनुभूति स्वाभाविक है। बन्धनकी अनुभूतिके बिना मोक्षकी कल्पना सिद्ध नहीं होती। बन्धन किसीको है और वह उससे मुक्त होना चाहता है तो उसे अभी अपने अहंकी मङ्गलकामना है। अहंकी मङ्गलकामना रहनेका तात्पर्य है सुखकी वाञ्छाका रहना और जहाँ सुखकी वाञ्छा है वहाँ प्रेम नहीं। मोक्षकाममें भी प्रेम नहीं है। सुखवाञ्छा जहाँ है वहाँ त्याग नहीं और जहाँ त्याग नहीं वहाँ प्रेम नहीं। इसलिये प्रेमीजन यहाँकी वस्तुओंकी तो कल्पना ही नहीं मोक्षतकका भी परित्याग कर देते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(श्रीमद्भा० १। १८। १३)

जो भगवान्में आसक्त है, उनमें प्रेम रखता है, भगवत्संगी है, उसका लवमात्रका भी यदि संग मिलता है तो उसकी तुलना यहाँके भोगोंकी तो कोई बात ही नहीं, स्वर्गके भोग और 'अपुनर्भव' अर्थात् जहाँ जानेके बाद फिर वापस नहीं आना पड़ता अर्थात् मुक्तिसे भी नहीं है। उस भगवत्प्रेमीके लवमात्रके संगकी इतनी महिमा है जितनी मोक्षकी भी नहीं। भागवतकार कहते हैं कि इसे तौला नहीं जा सकता है। ये भगवान्के बिल्कुल स्पष्ट शब्द हैं।

इस प्रेमकी इतनी महिमा है कि इसे प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मविद्या भी उपासना करती हैं। पद्मपुराणके पातालखण्डमें एक कथा आती है कि एक सरोवरके किनारे एक तपस्विनी महादेवी तप कर रही थीं। उसी समय

कुछ ऋषि पाससे गुजरे तो इन्हें देखकर वे बड़े प्रभावित हुए। कुछ देरके बाद जब इनकी तन्द्रा टूटी तो ऋषियोंने प्रार्थना करके पूछा कि माता! आप कौन हैं? वे बोलीं—'ब्रह्मविद्या'। ऋषियोंने फिर पूछा कि महादेवी! आप क्या करती हैं? उत्तर मिला कि 'विद्या प्रदान करती हूँ और अविद्याका नाश करके ब्रह्म (लोक) में भेजती रहती हूँ।' पुनः ऋषियोंने पूछा कि आप क्या कर रही हैं? तब वे बोलीं कि 'मैं तपस्या कर रही हूँ।' ऋषियोंके यह पूछनेपर कि तपका भाव प्रदान करनेवाली महादेवी आप क्यों तप कर रही हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि 'गोपी-भावकी प्राप्ति हेतु, भगवान्‌के व्रजप्रेमकी प्राप्ति नहीं हुई यह मेरे मनकी वासना है। इसको पूर्ण करनेके लिये मैं तप कर रही हूँ।' इसलिये जिस प्रेमकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मविद्या तप करती हैं, नारदजी गोपी बनते हैं, अर्जुन अर्जुनी बनते हैं, वह प्रेम क्या यहाँकी गंदी चीजोंसे होगा? इस गंदे जगत्‌का इस प्रेमसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो परमोज्ज्वल है। जहाँपर किसी प्रकारकी कामनाकी कालिमाका लेश भी नहीं है, जहाँ किसी प्रकारकी वासना नहीं है, केवल प्रेमास्पदका सुख जहाँ समुद्र बना लहराता रहता है उसका नाम प्रेम है और वह प्रेम जिन गोपियोंमें पैदा हुआ वे ही भगवान्‌की परम प्रेयसी हैं। उन्हीं गोपाङ्गनाओंके प्रेमको ही लेकर भगवान् व्रजमें अपनेको प्रकट करते हैं।

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि मैं सबके सामने प्रकाशित क्यों नहीं होता हूँ? लोग मुझे क्यों नहीं पहचानते हैं? फिर स्वयं बताते भी हैं कि इसका कारण है कि 'मैं उनके सामने अपनेको योगमायासे ढककर आता हूँ—'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः**' (गीता ७। २५), परंतु गोपाङ्गनाओंके सामने भगवान् योगमायासमावृत नहीं हैं—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १)

वहाँ भगवान्‌ने अपनी योगमायाको उतार दिया और कहा कि तुम हमारी इस लीलाका आयोजन करो, परदा बनकर हमारे ऊपर छा जाओ, जिससे लोग पहचान न सकें। जो भगवान् हम लोगोंके सामने योगमायासमावृत हैं, वे गोपाङ्गनाओंके साथ योगमायासे अनावृत हैं और योगमाया उनकी सेवामें लग जाती है। यही हमारा और गोपियोंका अन्तर है। इसी कारण

हम भगवान्‌को नहीं देख पाते और गोपियाँ नख-शिख-दर्शन करती हैं; क्योंकि वहाँ योगमायाका परदा नहीं है। चीर-हरण कोई गंदी चीज नहीं है। गंदी तो महाकामियोंद्वारा होगी और नरकमें ले जानेवाली होगी। वहाँ तो इसका अर्थ ही दूसरा है। जैसे भगवान् योगमाया-अनावृत हैं, उसी प्रकार भक्तोंको भी अपना हृदय खोल देना चाहिये। हृदयपर आवरण रहा तो प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

भगवान्‌के ज्ञानमें तीन बातें बाधक हैं—मल, विक्षोभ और आवरण। मलका नाश हो जाता है भगवान्‌की इच्छा करते ही और विक्षोभ मिट जाता है भगवान्‌में मन लगते ही तब चंचल मन अचंचल हो जाता है। शेष रहता है आवरण, इसे भंग होना ही चाहिये। यदि आवरण भंग नहीं होता है तो भगवान्‌के मिलनेमें व्यवधान रह जाता है। गोपियोंका आवरण भंग करनेके लिये भगवान्‌ने स्थूल लीला की। इसमें अन्य कोई बात नहीं। जहाँ यह मायाका परदा हटता है वहीं भगवान् और भक्तका, जीव और परमात्माका मिलन होता है। जहाँ बीचमें माया है वहाँ मिलन नहीं होता। माया ही जीव और परमात्माके बीचकी यवनिका है। इस प्रकारका आवरण ही व्यवधान है जो दोनोंके एक होते हुए भी एक नहीं होने देता। इसीलिये इस परदेको हटा दिया—अनावृत हो गये भगवान् और अनावृत हो गयीं श्रीगोपाङ्गनाएँ। जीव और परमात्मा, भक्त और भगवान् एक हो गये। यही रासलीलाका रहस्य है, कोई बुरी बात नहीं। इस प्रकार भगवान्‌के प्रेमराज्यमें जो प्रवेश करते हैं उनकी चरण-रज भी सर्वोत्तम है। ऋषि-मुनि भी इनके चरणोंकी धूलिकी कामना करते हैं। प्रेमकी ऐसी महिमा है कि भगवान् भी चरण-रज चाहते हैं—

'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥'

(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

इस प्रेमका स्वरूप इस प्रकार हो—

प्रानधन सुंदर स्याम सुजान!
छटपटात तुम बिना दिवस-निसि मेरे दुखिया प्रान॥
बिदरत हियौ दरस बिनु छन-छन, दुस्सह दुखमय जीवन।
अमिलन के अति घोर दाह तैं दहत देह-इंद्रिय-मन॥
कलपत-बिलपत ही दिन बीतत, निसा नींद नहिं आवै।

सुपन-दरसहू भयो असंभव, कैसैं मन सचु पावै॥
अब जनि देर करौ मन-मोहन! दया नैक हिय धारौ।
सरस सुधामय दरसन दै निज, उर की अगिनि निवारौ॥

(पद-रत्नाकर, पद सं० ३०९)

यह दु:सह दु:खरूप विरहकी अवस्था है। इस प्रकारसे भगवान्‌के लिये हृदयमें व्याकुलता होनी चाहिये। भगवान्‌की प्राप्तिके लिये हृदयमें ऐसी आग लग जानी चाहिये, जो भगवान्‌के मिले बिना किसी अन्य वस्तुसे शान्त हो ही नहीं। तब भगवान् स्वयमेव उस आगको बुझानेहेतु प्रकट होंगे और हमेशा-हमेशाके लिये शान्ति एवं शीतलता प्रदान कर देंगे।

******

शरणागतिसे प्रेम-प्राप्ति

समस्त गुणोंसे अतीत होना और समस्त सद्गुणोंको एकमें ही देखना—एक ही बात है। जगत्‌के जितने भी गुण हैं, वे सब त्रिगुणमयी प्रकृतिके गुण हैं। इन गुणोंके द्वारा सबका जीवन आच्छादित है। इन गुणोंका यह आच्छादन-आवरण दूर होना बड़ा कठिन है। इनके दूर होनेका उपाय भगवान्‌ने एक ही बताया है—

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'

(गीता ७। १४)

भगवान्‌की माया बड़ी दुरत्यय है। यह सबको मोहित किये हुए है। भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌के शरणापन्न होनेपर मोहित करनेवाली माया दूर होती है। फिर गुणोंका आवरण अपने-आप हट जाता है।

'प्रपद्यन्ते' का अर्थ है—शरण होना, भजन करना, लगना, भगवान्‌के हो जाना। उसका एक दूसरा रूप यह होता है कि यह गुणमय जगत् न रहकर सर्वगुणमय भगवान् रह जाते हैं और उन एकमात्र भगवान्‌के साथ अभिन्न सम्पर्क स्थापित हो जाता है। उस सम्पर्ककी स्थापना ही उसके लिये गुणातीतावस्था है। जिसका सीधा और अभिन्न सम्बन्ध अपने प्रभुके साथ हो गया, उसपर कोई गुण अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। सारे

संकल्पोंका संन्यास करनेकी आवश्यकता नहीं है। जब समस्त संकल्प एकमें जाकर केन्द्रित हो जाते हैं, तब अन्यका संन्यास अपने-आप हो गया। कोई चाहे नदीको तैरकर पार करे अथवा नावमें बैठकर पार करे, दोनों प्रकारसे पार हो गये।

इसी तरह चाहे हम उन गुणोंका त्याग करके नि:संकल्प हो जायँ अथवा उन सारे संकल्पोंको कोई हमसे छीन ले। हमारे मनमें जो संकल्परूपी वस्तु संगृहीत है उसको कोई ज्यों-का-त्यों लूट ले, फिर हमारे पास कोई संकल्प रहता ही नहीं। जो एक ही संकल्प समस्त संकल्पोंको आत्मसात् कर लेता है, वह है—भगवत्-संकल्प—भगवान्‌के साथ अविच्छिन्न प्रेमका अत्यन्त घनिष्ठ और अनन्य सम्बन्ध। फिर उठते- बैठते, जागते-सोते, हर समय, हर अवस्थामें उसकी भगवान्‌में ही स्थिति रहती है। उसकी वृत्ति भगवान्‌के सिवाय कहीं अन्यत्र जाती ही नहीं। भगवत्-संकल्पका कोई त्याग कर नहीं सकता और त्याग करना अभीष्ट भी नहीं है।

जगत्‌के सारे संकल्पोंका त्याग करनेवाला गुणातीत महापुरुष भी ब्रह्ममें स्थित रहता है। ब्रह्म तो रहता है, यदि ब्रह्म न रहे तब तो 'शून्यवाद' आ जायगा। जैसे गुणातीत महापुरुषका एकात्म-भावसे ब्रह्ममें स्वाभाविक अवस्थान होता है। इसीलिये बाहरके किसी प्राणी, पदार्थ, परिस्थितिसे उसकी विषमता नहीं होती है, वह सबमें सम रहता है। क्यों रहता है? इसलिये रहता है कि उसके लिये बाहरकी किसी अवस्थाकी न तो सत्ता है और न ही प्रयोजन। इसी प्रकार भगवत्-संकल्पमें—एक प्रेमास्पद भगवान् रह जायँ तब फिर जगत्‌की जिस रूपमें सत्ता आज हमारे सामने है, उस रूपमें सत्ता नहीं रहती है। अपने-आप संकल्पका संन्यास हो गया। जीवका अस्तित्व नहीं रहा, एकमात्र भगवान् रह गये। इतना-सा अन्तर है कि उस गुणातीतावस्थामें जहाँ अविशेष ब्रह्मतत्त्वके साथ एकात्म है, वहाँ अनुभव करनेवाला भी नहीं रहता है। अनुभव करनेवाला जहाँतक रहता है, वहाँतक वृत्ति है। परंतु परम प्रेमावस्थामें भगवान् ही अनुभव करनेवाले बने रहकर अपना अनुभव आप करते हैं, अलग रहकर। यहाँ अनुभव है और वहाँ अनुभव नहीं है, स्वरूप है। स्वरूपमें बड़ी सूक्ष्म चीज है कि इसमें अनुभवकी कोई बहुत आवश्यकता नहीं है। अनुभवकी आवश्यकताके लिये अनुभवके योग्य किसी वस्तुकी जरूरत होती है। अनुभव करनेवाला कोई रहता है,

चाहे वह अत्यन्त सूक्ष्म ही क्यों न हो।

गुणातीतावस्थामें अनुभव नहीं है और प्रेममें अनुभव है। इसमें दो रहते हैं, इसीलिये एक ही दो बनकर स्वयं अपनेमें ही अपना अनुभव करते हैं। यहाँपर भी जगत् नहीं है और वहाँपर भी जगत् नहीं रहता है। वहाँपर जो है उसका नाम कुछ भी रख दें—अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, सुखस्वरूप, ज्ञानस्वरूप अथवा तत्त्व। यहाँपर उसका नाम है—भगवान्, परमप्रेमास्पद, परमप्रेष्ठ अथवा प्राणप्रिय। वह प्राणप्रिय ही अनुभव करनेवाला बना हुआ अनुभव-रसानन्दका आस्वादन करता है। यहाँ आस्वादन, आस्वाद्य और आस्वादक हैं; परंतु एक ही तत्त्व आस्वाद्य भी बना, आस्वादन भी बना और आस्वादक भी बना। इस प्रकार दोनोंमें ही स्थिति एक-सी है। यहाँ भ्रम होता है कि दोनोंमें एक-सा कैसे? कहते हैं कि प्रेममें लीन नहीं होता है। प्रेममें जगत् चाहे बना रहे, लेकिन वह रहता है भगवान्के लिये। इस प्रकारकी बात मानकर मनुष्यका चित्त भोगोंमें रह जाता है। वह भगवान्का नाम ले लेता है। जगत् भले ही रहे, जगत्की क्रिया रहे; परंतु तत्त्वत: नहीं रहता है।

अब तत्त्वत: यहाँ भी नहीं है और वहाँ भी नहीं है। फिर तत्त्वत: पता किसको लगे? यदि दोनों तरफ कहनेकी ही चीज है, तब तो वास्तविक स्थिति न यहाँ है और न वहाँ है। यदि असली स्थिति है तब जो वहाँ है वही यहाँ है। सत्य एक ही है, दो नहीं है। इसलिये लड़ाई-झगड़ेकी कोई चर्चा नहीं। केवल एक ही बात है कि जिसकी जैसी भावना हो, उसके अनुसार अपनी-अपनी रुचिके अनुसार हम भगवान्का अनुभव कर सकते हैं, उनका दर्शन कर सकते हैं। ब्रह्ममें भी उनका दर्शन और श्यामसुन्दरमें भी उनका दर्शन। ब्रह्म भी श्यामसुन्दर और श्यामसुन्दर भी ब्रह्म। परंतु जो श्यामसुन्दरके रूपको देखते हैं उनको जगत्में व्यापक ब्रह्म नहीं दीखता है। उनको जगत्में प्रत्येक स्थानपर नृत्य करनेवाला मदनमोहन, त्रिभङ्गशेखर, परमललित, परमसुन्दर, मुनि-मन-मोहन, मन्मथमन्मथ, नाचता हुआ—उछलता हुआ श्यामसुन्दर दीखता है। वहाँपर शान्तानन्द है और यहाँपर उछलतानन्द है, उछलता हुआ आनन्द, नाचता हुआ आनन्द है। केवल आनन्द शान्त ही रहे, कभी नाचे ही नहीं और केवल नाचता ही रहे शान्ति आवे ही नहीं ऐसा नहीं हो सकता। समुद्र अपने अतल-तलमें अत्यन्त निष्पन्द, गम्भीर

रहता है। वहाँ स्पन्दन ही नहीं होता, परंतु यदि समुद्रमें तरंगोंका उच्छ्वास न हो तब समुद्रकी शोभा ही नष्ट हो जाय। वे तरंगें समुद्रसे अतिरिक्त अन्य कोई चीज नहीं हैं। भक्तकी भाषामें शंकराचार्यजी कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

अर्थात् हे नाथ! वस्तुतः मुझमें और आपमें भेद नहीं है; तथापि मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं, क्योंकि तरंग ही समुद्रकी होती है, समुद्र तरंगका कहीं नहीं होता।

भगवन्! आपमें और मुझमें भेदका अभाव है, परंतु 'तवाहम्'—हम तुम्हारे हैं। कैसे कहें कि तुम हमारे हो? यह भक्तके भावकी भाषा है।

भगवान्में उच्छ्वास भी है—उछलना भी है और शान्ति भी है। जैसे जगत्में व्यापक विचारदृष्टिसे ब्रह्मको देखनेवालेको बुद्धिके अत्यन्त सूक्ष्म हो जानेपर—'दृश्यते' सूक्ष्म दर्शन होता है ब्रह्मकी व्यापक एक सत्ताका, उसी प्रकार प्रेमीको दीखता है—एक श्यामसुन्दर और कोई नहीं। अपनी रुचिकी चीज सबको अच्छी लगती है। तर्क-वितर्ककी बात नहीं, अपने मनके आनन्दकी बात हो।

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' (गीता ७। १९)

इसका अर्थ है कि बहुत जन्मोंके बाद एक जन्म ऐसा होता है, जिसमें चतुर्विध (अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी) भजनेवालोंमें ज्ञानी भक्त सबमें व्यापक सर्वत्र वासुदेव श्यामसुन्दरको देखकर उनका भजन करता है। **'मां प्रपद्यते'** मैं जो वासुदेव सर्वत्र व्याप्त हूँ, सबमें खेल रहा हूँ, ऐसे सबमें—वासुदेवके दर्शन करनेके भावसे जो ज्ञानी भक्त मुझको बहुत जन्मोंके बाद भजता है, वह सुदुर्लभ है। सबमें वासुदेवको देखनेवाला और समझनेवाला महात्मा दुर्लभ है लेकिन ऐसा भक्त सुदुर्लभ है; क्योंकि वह भक्त है, उसमें सरसता है।

जिस प्रकार ज्ञानियोंके ज्ञानसत्रमें आपसमें ब्रह्म-चर्चा होती है, उसी प्रकार प्रेमियोंमें आपसमें केवल प्रेम-चर्चा होती है। मात्र प्रेमास्पदकी चर्चा और कोई चर्चा उन्हें रुचिकर नहीं लगती है।

'नहीं सुहावै जग की बातें, एक दिलवर की चर्चा होती'

एकमात्र दिलवर—प्राणप्यारेकी चर्चा हो तब तो अच्छी बात है।

अन्य कोई बात प्रेमियोंको अच्छी लगती ही नहीं है। ऐसी बातें, जो बड़े वैज्ञानिक, आत्मदर्शी, विद्वान् और विवेचक हैं—उनकी दृष्टिमें बहुत तुच्छ प्रतीत होती हैं। परंतु प्रेमियोंकी प्रेम-चर्चामें प्रेमास्पदके जूतीकी कोई बात आ जाय तो वह भी उन्हें बड़ी सुखदायिनी होती है। वे अपने प्रेमास्पदके जूतीकी महिमा कहने लगते हैं। यह कैसी जूती है कि उनके पैरोंमें रहती है। उनके चरण-कमलोंका नित्य स्पर्श प्राप्त करती है। यह कितनी दिव्य होगी।

तुलसीदासजी कहते हैं कि जिसके मुखसे राम-नाम निकलता है, उसकी जूतीके लिये मेरे शरीरका चमड़ा ले लिया जाय। कितनी ऊँची बात है। परंतु जिस जूतीको वे स्वयं धारण करते हों, उस जूतीका कितना महत्त्व है। जिसके चरणस्पर्शित एक-एक रजकणकी इतनी महत्ता है कि उस रजकणकी प्राप्तिके लिये बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तपस्या करते हैं, प्रयत्न करते हैं कि उन्हें मिल जाय। फिर उनकी जूतीकी कितनी महिमा है। वे प्रेमास्पद, भगवान् हैं; इससे प्रेमियोंको कोई मतलब नहीं होता। उनका मतलब केवल इस बातसे होता है कि हमारे प्रियतम हैं, बस। इससे परे अगर वे जाते हैं तो व्यभिचार हो जाता है। भगवान् मान लें तब भी ठीक नहीं। वे भगवान्की पूजा नहीं करते, वे तो प्रियतमकी पूजा करते हैं। यद्यपि होती है भगवान्की ही।

एक दिन सखियाँ आपसमें श्यामसुन्दरकी चर्चा कर रही थीं। उनके मनमें एक प्रश्न उदय हो गया कि यह हमारा श्यामसुन्दर साँवला क्यों है? गम्भीर प्रश्न है। एक सखीने कहा—इसके घरवाले सभी गोरे रंगके हैं। नन्दबाबा गोरे, यशोदा मैया गोरी, रोहिणीजी गोरी, दाऊजी गोरे और नन्द-उपनन्दादि सभी गोरे हैं; फिर हमारा यह श्यामसुन्दर नील-श्यामवर्णका कैसे हो गया? दूसरी सखीने कहा—यह तो सीधी-सी बात है। इसमें कोई खास बात नहीं है। इसका तत्त्व तो हमलोग जानती हैं। उसने कहा—कैसे ऐसा हुआ? मुझे भी बताओ। वह बोली—

कजरारी अँखियान में, बस्यो रहत दिन-रात।
प्रीतम प्यारो है सखी, ताते साँवर गात॥

अर्थात् हमारी काजलभरी आँखोंमें यह दिन-रात बसता है। कभी आता-जाता नहीं—'**बस्यो रहत दिन-रात**'। यहाँसे कभी निकलता नहीं है। इसीलिये

हे सखी! हमारे काजल लग-लग करके यह काला हो गया है।

बुद्धिवादियोंका मस्तिष्क देखता है भगवान्‌को यहाँपर, परंतु इन प्रेमियोंकी आँखें अपने प्रियतमको देखती हैं। उनकी आँखोंके सामने जो आ गया वह श्यामसुन्दर। हमारी आँखोंसे क्या दीखता है? जो सामने होता है। दर्पणके सामनेकी वस्तुका प्रतिबिम्ब ही दर्पणमें दिखायी देता है। इसीलिये हमें कभी आग दीखती है, कभी घोड़ा, कभी मकान और अन्य वस्तुएँ दिखायी देती हैं। हमारी आँखोंमें कभी घोड़ा बस गया, कभी मकान बस गया और कभी आदमी या अन्य वस्तुएँ बस जाती हैं। लेकिन कभी ऐसा जादू हो जाय कि श्यामसुन्दरके सिवाय कभी कुछ दूसरा बसे ही नहीं, बस सके नहीं, सामने दूसरा आये ही नहीं—'**जित देखौं तित स्याममई है।**' फिर उसके आँखमें दूसरा कौन बसेगा? दूसरा कुछ सामने आता ही नहीं, एकमात्र श्यामसुन्दर बसे हैं। वे अपने पूर्ण नेत्रोंके द्वारा सर्वत्र श्यामसुन्दरको देखते हैं। इसीलिये उनके नेत्र परिमार्जित हो गये और इतने सुन्दर हो गये कि इन प्राकृत नेत्रोंमें भी अप्राकृत भगवान आ करके रच-बस गये। अन्य कोई चीज उनके आँखोंके सामने न तो आती है और न ही आकर्षित करती है।

जिन आँखिन में वह रूप बस्यौ,
उन आँखिन से फिर देखिए क्या।

जिन नेत्रोंमें वह रूप बस गया, उन नेत्रोंसे दूसरेको कौन देखे? कैसे देखे? दूसरा कोई आ नहीं सकता है और यदि आ भी जाय तो आँखें उसको श्यामसुन्दर बना देती हैं।

सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करनेवाले महात्माके विचारमें कोई अन्य वस्तु आती ही नहीं और यदि आती है तब वह ब्रह्म ही बन जाती है। 'सर्वसंकल्प-संन्यास' और क्या है। जैसे ब्रह्मा किसी वस्तुका संकल्प मनमें लेते हैं तो वह पूरा होता है। इसी प्रकारसे यहाँ प्रेममें इन्द्रियाँ ब्रह्म-संस्पर्श प्राप्त करती हैं। केवल मनमें ही नहीं अवतरण होता है भगवान्‌का, अन्य इन्द्रियाँ भी अनुभव करती हैं। आँख देखती है भगवान्‌को, कान सुनते हैं भगवान्‌की मुरलीध्वनिको, हाथ स्पर्श करते हैं उनके चरणोंको, नासिका सूँघती है निरन्तर उनके अङ्ग-गन्धको और रसना निरन्तर रसास्वादन करती है उनके नैवेद्य—प्रसादका। प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा निरन्तर भगवान्‌का योग और कोई चीज

सामने आती ही नहीं। यह कितना ऊँचा भाव है कि वहाँ जगत्‌के गुण और जगत्‌की वस्तुएँ आती नहीं। उसमें पल भी नहीं सकतीं। जहाँ श्यामसुन्दरके एकान्त प्रेमका प्रादुर्भाव हुआ, वहाँ उसके अंदर मायाका प्रवेश नहीं होता है। अगर वहाँ कोई माया आती है तो स्वयं भगवान्‌की स्वरूपाशक्ति आती है; जो भगवान्‌की भगवत्ताको भी नित्य तिरोहित किये रहती है। वहाँ भक्त भी भगवान्‌को भगवान् नहीं मानता है।

जिस प्रकार भगवान्‌की भगवत्ता तिरोहित रहनेपर भी भगवान्‌के ज्ञानस्वरूपमें, भगवत्-स्वरूपमें कोई बाधा नहीं आती है। इसी प्रकार प्रेमी भक्तके भगवान्‌को भगवान् न माननेसे उसकी भगवत्-भक्ति, भगवत्-ज्ञान और भगवत्-साक्षात्कारमें कोई बाधा नहीं आती है। वहाँ भगवान् और भक्त दोनों स्वयं अपनी मायासे अपनेको मोहित करके, मोहित होकर नहीं (कभी थोड़ा होता है) बाध्य होकर लीला-रसास्वादन करते हैं। जैसे कोई व्यक्ति स्वाँग बनाकर अभिनय करे, तब जैसा अभिनय होता है उसी प्रकारकी चेष्टा होती है, उसी प्रकारकी पोशाक होती है; परंतु अभिनय समाप्त होनेके बाद वह चीज नहीं रहती है। अभिनयमें भी वैसी पोशाकमें दर्शकोंके सामने पात्र-रूपमें आनेपर भी उसका जो स्वरूप है ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण रहता है। इसी प्रकार भगवान्‌की भगवत्ता और भक्तका ज्ञान तिरोहित नहीं होता है। जो अज्ञानी होता है वह भक्त नहीं और यदि भगवान् भगवत्ताशून्य हैं तो वे भगवान् नहीं। इसीलिये न भक्तके स्वरूपमें और न ही भगवान्‌के स्वरूपमें कभी अन्तर पड़ सकता है। यदि अन्तर पड़े तब वह स्वरूप ही नहीं रहता; परंतु भगवान् अपनी भगवत्ताको स्वयं अपने आप ढक लेते हैं। ढक करके अपने-आप अपनेमें अपनेसे आनन्दका आस्वादन करनेके लिये आनन्द स्वयं ही बनते हैं और आस्वादन भी खुद ही बनते हैं। भगवान्‌का इस प्रकारका जो लीला-विलास है, इसमें भगवत्ताका प्रकाश नहीं रहता है, ज्ञानका प्रकाश नहीं रहता है। ज्ञानकी सत्ता और भगवत्ताकी सत्ता मिटती है।

यह जो प्रेमका मार्ग है उस प्रेमको प्राप्त करनेके पथपर सर्वसंकल्पोंका संन्यास भी करना पड़ता है। समस्त संकल्पोंको भगवत्-संकल्पमें मिला देना पड़ता है। भगवत्-सम्बन्धी सारे संकल्प उदित हों और भगवत्-सम्बन्धी ही सारे विचार मन करे। भगवत्-सम्बन्धी ही चिन्तन चित्त करे। भगवत्-

बुद्धि ही जीवनको संचालित करे और भगवान्‌को ही परम तत्त्व निश्चित करे। बुद्धि दो विभाग साथ रखती है—न्याय-विभाग और शासन-विभाग। बुद्धिके दो कार्य हैं—निश्चय करना और संचालन करना। बुद्धि मार्गका निश्चय भी करती है और सारथिका कार्य भी करती है। एक बुद्धि निश्चय करती है भगवान्‌का और एक बुद्धि ले जाती है भगवान्‌की ओर।

संक्षेपमें भगवान् दो चीजें माँगते हैं—मन और बुद्धि। अपनी बुद्धि और मन मुझे दे दो, फिर सारा काम मेरा है—

'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' (गीता ८। ७)

मन, बुद्धि ही असली चीज हैं और प्रेमीके मन-बुद्धि प्रेमीके पास रहते नहीं हैं। ये प्रेमास्पदको देनेसे ही प्रेमकी सिद्धि होती है अन्यथा नहीं। मन-बुद्धि यदि प्रेमास्पदको समर्पण नहीं किये गये तो प्रेम है ही नहीं। यदि मन-बुद्धिका समर्पण अपने प्रेमास्पद भगवान्‌को हो गया, फिर इनपर उनका अधिकार हो गया। वे मनमें जो चाहें सो करें और बुद्धिसे जो चाहे सो करवायें। फिर, भगवत्-संकल्प उसके जीवनमें अपने-आप आ गया। संकल्प-विकल्प करनेवाला मन और निश्चय करनेवाली बुद्धि; जब भगवान्‌के अधीन हो गये तब संकल्प-विकल्प करनेवाला मन—भगवान्‌का संकल्प-विकल्प करनेवाला मन हो गया और बुद्धि भगवान्‌के निश्चयका स्वरूप बन गयी। इसीका नाम प्रेम है।

इस प्रेमके मार्गमें प्रारम्भमें करना यही पड़ता है कि भगवान्‌को परम प्रेमास्पद मानना। एकमात्र भगवान् ही परम प्रेमास्पद, परम ममतास्पद, परम सुखरूप और परम प्रिय भगवान् ही हैं। इस प्रकार मान करके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा उन्हींका नित्य-निरन्तर संकलन करना। उनको लाना—इकट्ठा करना। मनमें, बुद्धिमें और इन्द्रियोंमें भी भगवान्‌का संकलन—संग्रह होता रहे। भगवान्‌की बात सुननेको कान नित्य समुत्सुक रहें। दूसरी बात सुनायी दे तो कान स्वतः हट जायँ। ऐसा अभ्यास हो जाय कि आँखें भगवत्स्वरूपको निरन्तर सर्वत्र देखें, भगवान्‌के भक्तोंको देखें और बोले—ये देखो, उनकी लीला है—कैसा सुन्दर वृक्ष है। इसमें फूल खिला है। भगवान् कैसे सुन्दर फूल बनकर आ गये। कैसी सुन्दर-सुन्दर इसकी पँखड़ियाँ हैं। कैसी कला, कैसी कारीगरी, कैसी मीठी-मीठी सुगन्ध है। भगवन्! आज तुम खूब बने हो। चिड़ियोंका चहकना सुनायी दे तो बोले—भगवन्!

आपकी आवाज कितनी सुन्दर है, आप कितना मीठा बोलते हो। कौआ बनकर आ गये, काँव-काँव करने लगे, ऐसा बोलनेवाले बन गये।

इस प्रकार प्रत्येक बोलीमें, प्रत्येक भाषामें, प्रत्येक स्पर्शमें, प्रत्येक दर्शनमें मधुर-मधुर भगवान्‌का संस्पर्श प्राप्त करनेका अभ्यास करे निरन्तर। यदि ऐसा न हो तो यही सोचे कि इतनी बड़ी सृष्टिकी कला जिस कारीगरकी है, उसे देखना है। इस कलापनका गीतामें बड़ा सुन्दर भाव है। अर्जुनने देखा जगत्‌के सौन्दर्यको। छोटे शिशुका सौन्दर्य, मनोहर पक्षियोंका सौन्दर्य, पशुओंका सौन्दर्य, नक्षत्रोंका सौन्दर्य, शीतल मलय पवनका सौन्दर्य। सौन्दर्यका तात्पर्य केवल रूपसे नहीं है। बुद्धि भी सुन्दर होती है, वस्त्र भी सुन्दर होता है, बात भी सुन्दर होती है। सौन्दर्यको देख करके साधकके मनमें यह आये कि सारे सौन्दर्यका, कलाका निर्माता जो कला-निपुण कलाकार है, उसे देखना है कि वह कैसा है। जिसकी तूलिकामें इतना जादू है कि उसने ऐसा चित्रण किया है। जिसके चित्रणका यह चमत्कार है, वह चित्रकार कैसा है? उसका हृदय कैसा है? उसके नेत्र कैसे हैं? उसका मुख कैसा है? उसके चरण कैसे हैं? उसको देखना है। भगवान्‌को देखनेकी अभिलाषा मनमें जाग्रत् हो गयी और वह लालसा बढ़ती चली गयी, तब अपने-आप उसमें सारा-का-सारा सामान जो अपने पास संग्रहित है—मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ, वे अर्पित हो जायँगे। यदि इसमें धन्य-बुद्धि होगी तब जीवन सफल हो जायगा। इस बातमें धन्य मानेगा कि आज भगवान्‌की बात सुननेको मिली—कहनेको मिली। फिर उसके चित्तमें रस आयेगा। यह जो भगवत्-रसानुभूति है, इसमें इतना चमत्कार है कि यह जीवनको बरबस अपनी ओर खींच लेती है।

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

(विनय पत्रिका १६९)

यदि रामका मिठास आ गया होता तब जितने रस हैं—नवरस, षड्रस, वे सभी फीके पड़ गये होते। वे नीरस, अरस, विरस हो गये होते। इनमें रस इसलिये है कि रसानुभूतिका अभाव है। भगवान्‌की ओरसे जो रसकी प्राप्ति होती है, उसे अभी पिया नहीं। कहते हैं कि राम-बाण अमोघ होता है। जिसको बिंध जाता है, वही जान पाता है। उसीको रसानुभूति

होती है। स्वामी रामदासजीका एक पद है—'**राम बाण लाग्या हो तो जानै**'—रामका बाण जिसको बिंध जाता है, वही जानता है कि राम-बाण कैसा होता है। मधुसूदनजीने अपने बँगला काव्य 'व्रजाङ्गना' में लिखा है—

जिसने देखा कभी नयनभर मोहन रूप बिना बाधा।
वही जान सकता है क्योंकर कुलकलंकिनी है राधा॥

श्रीराधाको लोगोंने कुलकलंकिनी कहा, जबकि इनसे बड़ा कुलको उज्ज्वल करनेवाला आजतक हुआ नहीं। जिसका सर्वस्व भगवान्‌को समर्पित हो जाय वही तो कुलका उज्ज्वल है। परंतु जिस प्रकार किसी चोर-कुलका कोई सदस्य चोर न हो तो उसे कुलवाले मूर्ख मानते हैं, उसे चोर-कुलका कलंक मानते हैं। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादसे कहा कि तुम हमारे कुलमें कलंक कहाँसे पैदा हो गये? रामको भजनेवाला उस कुलका कलंक है। भगवान्‌को जीवन अर्पण करनेवाला कुलकलंकी है। अपने अज्ञान, मोह और विषयोंको भगवत्-अर्पण करनेवाला विषयी पुरुष क्या जाने कि उस भक्तके मनमें क्या है? उसी प्रकार, जिसने कभी मोहनके रूपको जरा-सा व्यवधानरहित देख लिया, वही इस बातका अनुभव कर सकता है कि कुलका परित्याग राधाके द्वारा कैसे हो गया?

यह सारा-का-सारा—कुल, मान, शील, लज्जा, धैर्य, लोक-परलोक भगवान्‌का अवगाहन होनेपर रहता नहीं है। उसे छोड़ना नहीं पड़ता है, छूट जाता है। इनका परित्याग स्वतः हो जाता है। कुछ रहता नहीं; रह सकता नहीं; क्योंकि एक प्रकारकी आँधी होती है जो समस्त कूड़े-करकटको उड़ा ले जाती है। आँधी दो प्रकारकी होती है—एक कूड़ा लाकर भर देती है और एक कूड़ेको उड़ा ले जाती है। विषयासक्तिका जो तूफान है यह तमाम जगहोंसे कूड़ा लाकर भर देता है और जो भगवान्‌के प्रेमकी आँधी है, यह सारे कूड़े-करकटको ले जाकर ऐसी विलक्षण आगमें डाल देती है कि वह सदाके लिये जल जाता है। यह कूड़ा क्या है? भगवान्‌के अतिरिक्त जो कुछ है, वह सारा कूड़ा-ही-कूड़ा है। जिसमें भगवान् नहीं उसका नाम है—दुःख। भगवान्‌ने कहा—'दुःखालयम्', 'असुखम्'। किसको कहा? जो भगवान्‌को तजते हैं, संसारको कहा। जिस जीवनमें भगवान् भरे हैं, वहाँ तो दुःख है ही नहीं। वहाँ तो दुःखका आत्यन्तिक अभाव है और सुखकी अतिरेक स्थिति है। **दुःख वहाँ, जहाँ भगवान् नहीं।**

जगत्‌में दो ही चीजे हैं—या तो जगत् दुःखमय है अथवा जगत् भगवन्मय है। जहाँ भगवान्‌को हम नहीं देखते, वहाँ चाहे हजार सुखकी सामग्री एकत्र कर लें, हजार सुखका संकल्प अपने मनमें कर लें कि धनसे सुख मिलेगा, पुत्रसे मिलेगा, स्त्रीसे मिलेगा, मकानसे मिलेगा और अन्यान्य वस्तुओंसे मिलेगा। न जाने किस-किससे सुखकी सम्भावनाका संकल्प कर लें और चाहे वह सब प्राप्त भी हो जायँ; परंतु असली सुख अप्राप्त रहेगा। कड़वी तुम्बीकी चाहे दिलखुशा बना लें अथवा कलाकन्द, यदि उसमें चीनी नहीं पड़ेगी तो उसकी आकृति कलाकन्दकी रहेगी; परंतु मुँहमें डालते ही उलटी आने लगेगी—नाम उसका कुछ भी रख लें। हमारे मस्तिष्कमें यदि यह है कि जगत् प्रभुसे शून्य है तो वह जगत् दुःखमय है। इसमें कोई संदेह नहीं है। और जहाँ भगवान् हैं वहाँ तो सारे सुख, सारी शान्ति, सारा आनन्द अपने-आप बिना बुलाये आ जायगा। जैसे सूर्यके साथ प्रकाश आयेगा ही, अग्निके साथ दाहिका शक्ति आयेगी ही, अमृतके साथ अमरत्व आयेगा ही, इसी प्रकार भगवान्‌के साथ सुख-शान्ति आयेगी ही।

जगत्‌के दो रूप हैं। या तो जगत्‌में सुख-ही-सुख है अथवा दुःख-ही-दुःख है। जहाँ मिश्रण है, वहाँ सुख भी है, दुःख भी है। सुख-दुःखमय जगत् द्वन्द्वात्मक है। सुख भी दुःख अथवा दुःखकी सम्भावना लिये रहता है। संसारका प्रत्येक सुखी व्यक्ति खिन्न रहता है, उदास रहता है, भयभीत रहता है कि कहीं यह सुख चला न जाय और दुःख आ न जाय; क्योंकि यह आत्माका अनुभव है कि यह रहनेवाली चीज नहीं है।

‘**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥**’ (गीता २। १४)

जिसकी आँख खुल गयी हो, बुद्धिमान् हो गया, वह इस दुःखालय संसारमें नहीं रमता है। इसमें प्रीति नहीं करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

जब संसारमें दुःख-ही-दुःख है, तब क्या करना चाहिये? इसका सीधा उत्तर है कि भगवान्‌की बात सुने। यहाँ बहुत अधिक उपदेशकी चर्चा, ज्ञान-विज्ञानकी चर्चा नहीं करनी है। सभी अच्छे हैं, किसीका विरोध नहीं है; परंतु यदि कोई सूक्ष्म बात वास्तवमें समझमें न आवे, तब क्या

करें? फिर व्यक्तिका सीधा कार्य है कि वह भगवान्‌को मनसे प्यारा बना ले और उस प्यारेका नाम लेता रहे। प्यारेका नाम लेते ही अंदरसे आनन्द उमड़ेगा। प्रेमका प्रादुर्भाव होगा। फिर उसका हृदय तत्काल द्रवित हो जायगा। वह कभी जोरसे हँसेगा, कभी चिल्लायेगा, कभी सुबक-सुबककर रोयेगा, कभी गायन करेगा और कभी उन्मत्तकी भाँति नाचेगा। सारे संसारकी लज्जा—शर्मको छोड़कर ऐसा करेगा। फिर और कौन-से ब्रह्मको प्राप्त करना है? जीवनमें ब्रह्म जब आया तो जगत् कहीं रहा नहीं। वहाँपर सर्वप्रियतम श्यामसुन्दर ही नृत्य बनकर, गान बनकर, आँसू बनकर, रुदन बनकर, हँसी बनकर प्रकट हो गये। बस, और क्या चाहिये? यह उन्माद, यह नृत्य निरन्तर बना रहे। उसमें कभी विराम न हो। फिर नहीं चाहिये वह शान्ति, नहीं चाहिये विरामावस्था, नहीं चाहिये अक्षुब्धावस्था। यह क्षोभ बना रहे, यह अशान्ति बनी रहे। यह नाचना-कूदना कभी बंद न हो; क्योंकि यह नाचना उछलता हुआ आनन्द है। इस उछलते हुए आनन्दमें दु:खका लेश नहीं है और नाचका आनन्द अलगसे है। दु:ख तो है ही नहीं, वह तो ऐसे चुपचाप है, मानो है ही नहीं। जब दु:ख ही नहीं—फिर सारा आनन्दरूप हो गया। मिश्री खानेवाला अगर मिश्री बन जाय तब उसे मिश्री खानेका आनन्द कहाँसे आयेगा? परंतु मिश्री बन जाय और अपने-आप ही मिश्रीको चखनेवाला बन जाय तब उसमें मिश्रीका गुण भी बना रहा और उसका स्वाद भी मिलने लग गया।

इसलिये प्रेम भी एक गुणातीतावस्थाका वर्णन है। गुणातीतावस्था प्रेममें जो होती है, वह अपूर्ण भी नहीं है और कल्पना भी नहीं है। इन गुणोंका भगवत्-प्रेमीके जीवनपर कोई प्रभाव नहीं रहता है। भगवत्-प्रेमीका जीवन नित्य निर्मल और भगवन्मय होता है। इसलिये वह परम पवित्र भगवान्‌की सत्ताके अतिरिक्त किसी अन्य सत्ताको स्वीकार नहीं करता है। उसके लिये फिर मिट्टी और सोनेका पार्थक्य नहीं रहता है। जबकि गुणातीतवस्थामें यह हो जाता है। भगवत्-प्रेमी मिट्टी, पत्थर और सोनेको कुछ समझता ही नहीं है। वह तो अपने भगवान्‌का है। वह मिट्टीको मिट्टी नहीं मानता है, नरकको नरक नहीं मानता है। उसके नरकमें भगवान् खेलते हैं। भगवान्‌को उसके साथ नरकमें खेलना पड़ता है। वह तो यही कहता है कि ले जाओ वहाँपर जहाँ तुम्हारी इच्छा हो। चाहे नरकमें ले जाओ

अथवा अपने धाममें; परंतु नाचना तुम्हें साथ पड़ेगा। उसके लिये न नरक है, न स्वर्ग है। न तो मोक्ष मोक्ष है और न ही बन्धन बन्धन।

अब तो बन्ध-मोक्षकी इच्छा, व्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बन्धन है, मुक्ति चरणसे झरती है॥

यह बात ही याद रखें कि सारे प्रपञ्च ऐसे ही हैं। भगवान्‌का नाम लेते रहो और उनको ही अपना प्रिय मानो।

******

संत-महिमा

जीवनमें सबसे बड़ा लाभ है—संत-मिलन, संत-संग, संत-सेवन और सबसे बड़ी हानि है—असंत-मिलन, असंत-दर्शन तथा असंत-संग। अपनेको संक्षेपमें समझ लेना है कि संत कौन है और असंत कौन है? संत और असंतकी शास्त्रोंमें बहुत बड़ी व्याख्या है और उनके नाना प्रकारके लक्षणोंका वर्णन है, परंतु यहाँ एक ही बातसे संत-असंतका भेद कर लें।

संत वह है जो भगवान्‌के हृदयमें बसता है और जिसके हृदयमें भगवान् बसते हैं। असंत वह है जो भोगके संसारमें बसता है और जिसके मनमें भोग बसते हैं। यह छोटी-सी व्याख्या संत और असंतकी मान लेनी चाहिये। जिसके हृदयमें भगवान् बसते हैं और जो भगवान्‌में बसता है वह संत है और ऐसा संत यदि कहीं मिल जाय, ऐसे संतकी किसी प्रकारसे संगति मिल जाय, तब सच मानिये उसकी संसारके बन्धनसे मुक्ति हो गयी। यह अत्युक्ति प्रतीत होगी, परंतु सर्वथा सत्य है। एक वस्तु-गुण होता है, जैसे अग्निका संस्पर्श जानकर हो अथवा अनजानमें हो, कोई भूलसे अंगारेको हाथमें ले ले या कोई हाथ अंगारेपर रख दे, तब आग अपनी स्वाभाविक दाहिका शक्तिसे स्पर्श होनेपर हाथ जला देती है उसी प्रकार तीन-चार चीजें ऐसी हैं जो अपनी शक्तिसे पापका नाश कर देती हैं; जैसे—भगवान्‌का नाम, संत और श्रीगङ्गाजी आदि तीर्थ। इनमें भाव-अभावकी आवश्यकता नहीं होती है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(रा०च०मा० १।२८।१)

किसी भी प्रकारसे—'**सांकेत्यं पारिहास्यं वा**' संकेतमें या परिहासमें वास्तविक संतका यदि मिलन हो जाय तो उस प्राणीका उद्धार हो गया। परंतु हम तो ऐसा देखते हैं कि संतका मिलन भी हो गया और हमारा उद्धार हुआ भी नहीं। इसमें थोड़ी समझनेकी बात है। वस्तुतः हमें ठीक-ठीक स्पर्श नहीं प्राप्त हुआ। लोहा और पारस मिले नहीं। परंतु यदि संत मिले हैं तो लाभ हो चुका है, लेकिन वह लाभ अबतक सामने नहीं आया है। जैसे कोई बहुत धनी व्यक्ति किसी दरिद्रके नाम वसीयतनामाद्वारा अपनी सम्पत्तिका अन्तरण कर दे और उसे बताये नहीं। इससे वह दरिद्र कागजोंमें तो धनी हो गया, परंतु उसको जबतक इस बातका पता नहीं लगता तबतक वह समझता नहीं कि मैं धनी हो गया। ऐसा होता है। यह ठीक ही है। इसी प्रकार यदि वास्तविक संतका मिलन हुआ है, तब मिलनेवालेका कार्य हो चुका।

पद्मपुराणमें आया है कि किसी प्राणीका शव जल रहा हो और उस जलते हुए शवको कोई संत देख ले तो जिसका शव है, उसका उद्धार हो जायगा। ऐसा मानते हैं कि किसी मृत व्यक्तिकी जली हुई हड्डियोंका कोई चूरा या कुछ कण यदि गङ्गाजीमें प्रवाहित कर दिये जायँ तो गङ्गाके स्पर्शसे उसका उद्धार हो जायगा। कवि जगन्नाथ गङ्गाजीके बड़े भक्त थे। उन्होंने कहा है कि मृगकी नाभिसे निकली हुई कस्तूरीको अपने हृदयपर लगाकर जो देवियाँ गङ्गाजीमें स्नान करती हैं तो जिस मृगके नाभिकी वह कस्तूरी थी, उस मृगका उद्धार हो जायगा। ऐसा माहात्म्य माना गया है। कुछ लोग कह सकते हैं कि ये माहात्म्यकी बातें रोचक वाक्य हैं जो लोगोंको उस ओर आकर्षित करनेके लिये बनाये गये हैं। ये काल्पनिक हैं, परंतु इस अर्थवादको अपराध माना गया है—नामापराधमें। नामकी शक्तिको, उसकी महिमाको अर्थवाद कहना अपराध माना गया है।

फिर यदि माहात्म्यको सत्य मानें, तब कर्मोंका क्या होगा? शास्त्र कहते हैं कि '**अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।**' समस्त कर्म चाहे वे शुभ हों अथवा अशुभ अवश्यमेव भोगने होंगे। बिना भोगे कर्मोंका नाश नहीं होगा। लेकिन यहाँ माहात्म्यमें कहते हैं कि स्पर्शमात्रसे नाश हो गया। फिर दोनोंकी संगति कैसे? दोनों बातोंमें कौन सच है और कौन झूठ है? यदि दोनों बातें सच बातें हैं तो इनकी संगति ठीक नहीं बैठती है। परंतु ठीक संगति है और दोनों बातें सत्य हैं। कर्मोंका भोग हुए बिना

नाश नहीं होगा, यह बात बिल्कुल सत्य है, कर्म अपना भोग करायेंगे ही। आपको यदि किसी व्यक्तिको दस हजार रुपये देने हैं तो उसे दिये बिना मुक्त कैसे होंगे? देने ही पड़ेंगे, बिना दिये मुक्त नहीं हो सकते, परंतु यदि आपका कोई मित्र मित्रताके नाते उसे रुपये दे दे तो उससे आप मुक्त हो जायँगे। न्यायालयसे किसीके ऊपर कुछ पैसे जमा करनेका फैसला हुआ। यदि कोई मित्र-सम्बन्धी उसकी ओरसे पैसा जमा कर दे तो वह निर्णय स्वत: उसके ऊपरसे हट जायगा। इसी प्रकारसे राजाज्ञासे फाँसीकी सजा भी टल जाती है। राष्ट्रपतिको कानूनन अधिकार है कि वे चाहें तो फाँसीकी सजाको रद्द कर सकते हैं।

सर्वशक्तिमान्, सर्वसुहृद् ईश्वरका ही तेज गङ्गाजीमें है। राम नाममें उन्हींका प्रभाव है। गङ्गाजी क्या है? ये भगवान्‌की चरणधोवन हैं। राम नाम भगवान्‌का नाम है। नाममें जो शक्ति है, गङ्गाजीमें जो ताकत है वह उन्हींकी शक्ति है। वे चाहें तो क्या नहीं कर सकते हैं। अतएव उपर्युक्त समाधान ठीक है। इसका शास्त्रीय समाधान भी है—

'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्', 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'

(गीता ४।१९,३७)

भगवान्‌ने कहा है कि अगर ज्ञानकी अग्नि जल जाय तो वह अग्नि सारे कर्मोंको भस्म कर देगी। पुनः यदि भगवान्‌के प्रति कर्म अर्पित कर दिये जायँ तो भगवान् कहते हैं—'**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।**' (गीता ९।२८) शुभाशुभ कर्मोंके बन्धनसे मैं मुक्त कर दूँगा और '**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**' (गीता १८। ६६) तुम्हें सारे पापोंसे मैं मुक्त कर दूँगा। तुम्हें भोगना नहीं पड़ेगा।

कर्मका नाश तीन प्रकारसे होना माना गया है—प्रायश्चितके द्वारा कर्मका नाश, भोगके द्वारा कर्मका नाश और भगवत्कृपाजनित ज्ञान या भक्तिके द्वारा कर्मका नाश। जिस शास्त्रमें कर्मको अवश्य भोक्तव्य माना गया गया है, उसी शास्त्रमें कर्मसे इस प्रकार छुटकारा माना गया है। इसलिये इसमें कोई आपत्तिकी बात नहीं है।

इसी प्रकार संत-मिलनसे भी कर्मबन्धनसे छुटकारा हो जानेका जिनको विश्वास नहीं होगा, उनका छुटकारा नहीं होगा। यदि संतका वास्तविक मिलन हो गया तो उसका स्वाभाविक प्रभाव है कि वह जिससे मिला है, उसके

सारे बन्धनको वह छुड़ा देगा। कैसे छुड़ा देगा? उसके अंदर अपनी इस प्रकारकी एक शक्ति है जो कर्मबन्धनका नाश करती है। बन्धनशक्तिको नाश करनेवाली संतकी शक्तिका प्रयोग दूसरोंके लिये होता है। यह संतका स्वभाव है। भगवान् कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥

(गीता १२।१३)

जो भगवान्के भक्त-संत होते हैं, वे किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करते हैं। वे सबके मित्र होते हैं। जहाँ दुःख होता है वहाँ वे दया करते हैं, पिघल जाते हैं। वे ममता, अहंकार नहीं करते हैं। अपने सुख-दुःखमें समान रहते हैं और क्षमावान् होते हैं। वे दूसरेके दुःखको देख नहीं सकते। जहाँ दुःख देख नहीं सकते, वहाँ जो उनकी दुःखनाश करनेकी शक्ति है उसका प्रयोग होता है। यह संतकी महिमा है। तुलसीदासजीने बड़े सुन्दर शब्दोंमें संतके हृदयकी व्याख्या की है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

(रा०च०मा० ७।१२५।७-८)

कवियोंने संतके हृदयको नवनीतके समान बताया है। नवनीतके समान कोमल उपमा दी, परंतु संतके हृदयके लिये यह ठीक बैठी नहीं। क्यों नहीं बैठी? इसलिये कि स्वयं मक्खनमें दोष है। क्या दोष है?— **निज परिताप द्रवइ नवनीता।** मक्खन जब खुद संताप पाता है तब पिघलता है। जब उसे आँच लगती है, कष्ट पाता है तब पिघलता है, परंतु संत अपने आँच पाकर—कष्ट पाकर नहीं पिघलते हैं। उनके ऊपर चाहे जितने दुःख आ जायँ, वे पिघलते नहीं, लेकिन दूसरेके दुःखको देखकर संत पिघल जाते हैं—**पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।** यह संत—हृदय और मक्खनका भेद है। दूसरेके दुःखको देखकर पिघल जाना और उसकी सहायता न करना, ऐसा होता नहीं है। किसीके दुःखपर आँसू बहा दें, ऊपरी सहानुभूति जता दें और उसके दुःखको नाश करनेकी जो ताकत है उसका प्रयोग न करें तब आँसू बहाना दिखावामात्र होता है। किसीके दुःखको देखकर हमारी आँखोंमें आँसू आ जाय, यह बहुत अच्छा है। उसके दुःखको मिटानेकी

हमारेमें शक्ति न हो तो आँसू पर्याप्त हैं; परंतु शक्ति रहते हुए हम केवल आँसू बहाकर रह जायँ और अपनी शक्तिका प्रयोग न करें तब हम दयालुहृदय नहीं हैं। संत होते हैं दयालु और दूसरेके दुःखसे संताप पाकर पिघलनेवाले, इसलिये वे स्वाभाविक अपनी ताकतका प्रयोग करते हैं। उनमें ताकत क्या है? संसारके बन्धनको नाश करनेकी उनमें शक्ति है। संतके मिलनेसे किसीका उद्धार क्यों होता है? इसलिये होता है कि संतकी जो स्वाभाविक बन्धननाशिनी शक्ति, पापनाशिनी शक्ति है उसका प्रयोग संतके द्वारा स्वाभाविक ही उस जीवपर हो जाता है जो संतप्त है, दुःखी है। इसलिये संतका मिलन स्वाभाविक मुक्तिदाता होता है। यह एक युक्तिसंगत बात है और शास्त्रोंमें इसका प्रमाण तो है ही।

देवर्षि नारदजीने कहा है—महत्का जो संग है वह दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है—**महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च** (ना०भ०सू० ३९)। संतका मिलना बड़ा कठिन है, वे सहजमें नहीं मिलते। संतके नामपर ठगनेवाले भले मिल जायँ, वास्तविक संतका मिलना बड़ा कठिन है—'**दुर्लभः**'। यदि मिल जायँ तो उनको पहचानना बड़ा कठिन है—'**अगम्यः**'। संत अपना विज्ञापन नहीं करते। वे लिखा हुआ लेकर नहीं घूमते कि हम संत हैं और जो ऐसा करते हैं, वे प्रायः संत नहीं होते हैं। अब प्रश्न यह है कि संतका पता कैसे लगे? संतको तौलनेका कोई तराजू नहीं है। कोई व्यक्ति हजारों मन लकड़ियों और पत्थरोंको तौलनेवाले काँटेसे लाख रुपयेका हीरा तौलना चाहे और वह हीरा उस काँटेपर रखे, फिर बोले कि हमारा काँटा तो जरा-सा भी नहीं झुका, तब यह हीरा लाख रुपयेका कैसे हुआ। उससे यही कहना चाहिये कि भाई! तुम्हारा काँटा हीरा तौलनेका नहीं है। यह पत्थर तौलनेका है। इससे पत्थर तौलते जाओ, हीरा नहीं तुलेगा। इसी प्रकार सांसारिक आदमियोंकी बुद्धि संतको नहीं तौल सकती। वे अपनी दृष्टिसे संतको देखेंगे। उनके तराजूपर भारी-भारी पत्थर आयेंगे, बहुमूल्य हीरा नहीं आयेगा। इसलिये संतकी पहचान करना सांसारिक व्यक्तिके लिये कठिन है। इसीलिये वे अगम्य हैं।

संतका मिलना बड़ा दुर्लभ है और मिलनेपर पहचानना उससे भी कठिन; तथापि यदि संत मिल गये तो उनका मिलन व्यर्थ नहीं जायगा—**अमोघः**; क्योंकि उनकी जो वस्तुशक्ति है वह स्वाभाविक कार्य करेगी।

जैसे कोई हिमालयपर जाकर बर्फपर बैठ जाय और बोले कि मैं इस ठंडको नहीं स्वीकार करता। उसके 'ठंडको नहीं स्वीकार करता' कहनेमात्रसे जो ठंडकी अनुभूति है वह कैसे मिट जायगी? नहीं स्वीकार करनेपर भी बर्फकी जो स्वाभाविक ठंड है, ठंडा करनेकी जो शक्ति है वह ठंडा कर ही देगी। इसी तरह आगके समीप जाकर बैठें तो गरमी लगेगी ही, भले ही आप गरमी न चाहते हों, न स्वीकार करते हों। गरमी नहीं स्वीकार करनेपर भी वह आपके सिरपर चढ़कर बोलेगी कि मैं—गरमी आ गयी।

इसी प्रकारसे यदि वास्तवमें संतका संग हो गया तो जिसको संतका संग हुआ उसका उद्धार हो गया। हो जायगा नहीं, हो गया। जो अपनेको संत कहते हैं उन्हें यह बात कहनेमें भय लगेगा; क्योंकि उनसे मिलनेवालोंका उद्धार हुआ नहीं। वे इस भयसे नहीं कहेंगे कि कहीं संत बननेमें बाधा न आ जाय। परंतु अपनेको कहनेमें कोई हर्ज नहीं है; क्योंकि यह शास्त्रका निचोड़ है कि अगर संत मिल जायँ तो वह मिलना अमोघ होता है। जो लोग संदेहवादी हैं, वे इसका दूसरा अर्थ लगाते हैं कि कुछ फल तो होगा, व्यर्थ नहीं जायगा, परंतु पूरा फल नहीं होगा। सम्पूर्ण फल तो जाननेसे ही होगा। यह वैसी ही बात है जैसे कोई बोले कि मैं नहीं जानता था कि यह आग है इसलिये आग कम जलायी। अगर जानता कि आग है तब यह और जला देती। आगको जाननेसे आग जलाये और न जाननेसे कम जलाये—यह जैसे असिद्ध बात है, इसी प्रकार संतको जाननेसे वह उसके बन्धनको दूर करें और न जाननेसे नहीं करें, यह बात नहीं है। यह संतकी अमित महिमा है कि जिससे संतका मिलन हो गया, जिसने भगवान्‌का नाम ले लिया, जिसने गङ्गामें स्नान कर लिया, उसका उद्धार हो गया। उद्धार होगा नहीं, हो गया। लेकिन हम पहले ही यह मान लेते हैं कि ऐसा होगा नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। फिर श्रद्धापूर्वक, सदाचारपूर्वक अभ्यास करके आगे बढ़िये। यह मुफ्तका माल न लेकर, बहादुरकी भाँति कर्म करके प्राप्त करिये। यह और अच्छी बात है। परंतु हम-जैसे लोग आसरा ताकते रहते हैं कि अपनी कोई सामर्थ्य नहीं, साधन नहीं, इसलिये गङ्गा मैया ही तार दें, राम-नाम ही तार दे और संत ही तार दें। यह अलीक वस्तु नहीं है। ऐसी ही बात है।

संत मिलनेपर कार्य तो हो गया, परंतु हमें करना क्या चाहिये?

यह मुफ्तकी बात है, परंतु दो बात करनी चाहिये। एक, संतके मिलनेकी तीव्र आकांक्षा करनी चाहिये। संत गलियोंमें, बाजारोंमें विज्ञापन करते नहीं घूमते। वे साइनबोर्ड लगाकर नहीं बैठते कि हम संत हैं, आ जाओ। उद्धार करनेके लिये बैठे हैं। संत दूकान नहीं खोला करते। ऐसे संत जिनका मिलना ही भगवान्‌के मिलनेसे बढ़कर है, उनसे मिलानेकी भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। '**लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव**' (ना०भ०सू० ४०) भगवान्‌की कृपासे ही संतकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं होती है—'**बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥**'(रा०च०मा० ५।७।४) संतका मिलन संसारका अन्त करनेवाला है—'**सतसंगति संसृति कर अंता**' परंतु बिना भगवत्कृपाके संत नहीं मिलते। अतएव भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेकर संत-मिलनके लिये भगवान्‌को पुकारें।

दूसरी बात, संतकी परीक्षा करें। यद्यपि परीक्षा तो नहीं कर सकते; क्योंकि हमारे पास संत-परीक्षणके लायक बुद्धि ही नहीं है, फिर परीक्षा कैसे करें? परंतु अपने लाभालाभके लिये हम संत चुन सकते हैं। कैसे? जिसके संगसे, जिसके सांनिध्यसे, जिसकी बात माननेसे हमारे अंदर दैवी सम्पत्ति बढ़े, भगवान्‌की ओर वृत्ति लगे, संसारकी ओरसे वृत्ति हटे, पापोंसे मन हटे, वही हमारे लिये संत है और जिसके संगसे हमारा मन भगवान्‌से हटकर भोगोंमें लगे, हमारे मनमें पाप-वासना उठे, हमारा मन विषयोंकी ओर दौड़ने लगे, तब समझना चाहिये कि भले ही ये संत होंगे; परंतु हमारे लाभकी वस्तु नहीं हैं।

इस प्रकार अपने मनमें अपने लाभ-हानिकी बात सोचकर संग करे। संग करनेका अर्थ साथ रहना ही नहीं है। संग करनेका वास्तविक अर्थ है—सेवन करना, उनके उपदेशोंको अपने जीवनमें उतारना। जिस प्रकारसे हमें संत जो बतायें, उस प्रकारसे उसे अपने जीवनमें उतारनेका प्रयास करें। जीवनमें उस प्रकारका बननेकी चेष्टा करें। यह संतसेवन है। यद्यपि साथ रहनेमें भी बहुत लाभ है; परंतु पास रहनेकी अपेक्षा भी अधिक लाभ उनके उपदेशका अनुसरण करनेमें है। यदि हम संतकी एक बात भी वास्तविक रूपमें मान लें तो काम हो गया। गुरुने कहा—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**', यह सारा-का-सारा ब्रह्म है। यह महावाक्य कह दिया और हमने श्रद्धापूर्वक इसको स्वीकार कर लिया, स्वीकार करके देखने लगे—'**सर्वं**

खल्विदं ब्रह्म' बस, काम बन गया। भगवान्‌ने कहा—'**वासुदेवः सर्वमिति**' (गीता ७। १९) और '**मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६) ऐसे एक वाक्य भी भगवान्‌का हम साधनमें मान लें तो सारा काम हो गया। कहाँ-कहाँ भटकते फिरेंगे। भगवान्‌ने तो ऐसी-ऐसी दया की है कि जिसका कोई पारावार नहीं। उन्होंने कहा कि कहाँ-कहाँ भटकते हो, छोड़ो जगत्‌के बखेड़ेको, चिन्ता मत करो, एक मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हें समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

भगवान्‌ने कहा है—'**अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्**' (गीता २। ११) एवं '**मा शुचः**' (गीता १८। ६६)। गीताके प्रारम्भ एवं अन्तमें भगवान्‌ने ये दो बातें कही हैं। गीताका प्रारम्भ होता है—'**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (२। ७) से और उसकी अपूर्णताको दूर करनेके लिये भगवान् उपसंहार करते हैं—'**मामेकं शरणं व्रज**' से। अर्जुनकी शरणागतिमें कुछ कसर रह गयी थी। यह हम-जैसे लोग कहें तो बड़ा अपराध है; क्योंकि अर्जुन तो भगवान्‌के स्वरूप हैं—नर-नारायण। नरकी भी व्यास भगवान्‌ने वन्दना की है। लेकिन अर्जुनके कहनेपर भगवान्‌ने महिमा प्रकट की है। अर्जुनने कहा—महाराज! मेरी समझमें नहीं आ रहा है कि क्या करूँ? मैं आपका शिष्य, आपका शरणागत हूँ, आप मुझे मार्ग बतायें—'**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।**' इतना कहकर भी भगवान्‌की बात बिना सुने, भगवान्‌के बिना उत्तर दिये ही अर्जुनने अपना निर्णय दे दिया—'**न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह**' (गीता २। ९) युद्ध नहीं करूँगा। भगवान् हँसे और बोले—तुम मुझसे पूछ रहे थे कि बताओ क्या करें और मेरा उत्तर मिले बिना ही अपना निश्चय व्यक्त कर दिया कि लड़ेंगे नहीं। मैं कहता कि न लड़ो, तब मत लड़ते। यह गीताका बीज है। अगर अर्जुन यहाँ यह नहीं कहते तो गीता चलती ही नहीं। सारा मामला वहींपर समाप्त हो जाता। अर्जुनके व्याजसे हमलोगोंपर कृपा करके भगवान्‌ने अर्जुनके मुखसे यह कहलवाया। शरणागतिमें पूर्णता कब होती है? जब सारे बखेड़ोंपरसे चित्त हट जाता है। यह भी करो, वह भी करो, सब करो और अलग-

अलग करो तो बड़ी मुसीबत होती है। और; सबको करो एकहीके लिये या एकहीमें सब करो अथवा एकहीको सब कुछ मानकर करो तो काम बन जाता है।

जो जाको शरण लियो, ताको ताकी लाज।
उलटो जल मछली चले, बहो जात गजराज॥

कोई मतवाला हाथी गङ्गाके प्रचण्ड प्रवाहमें आ जाय तो सामने चलना तो दूर, टिकेगा भी नहीं और प्रवाहके साथ-साथ बह जायगा; परंतु छोटी-सी मछली प्रवाहके सामने चलती है। वह प्रवाह मछलीको नहीं बहाता है। मछलीकी इच्छा है कि वह जैसे चाहे चले। प्रवाह उसको नहीं रोक सकता; क्योंकि जल ही मछलीका जीवन है, जल ही उसका आश्रय है। जलके सिवाय वह किसीको जानती-मानती नहीं। जल न रहे तो उसके प्राण न रहें। आश्रयका अर्थ क्या है? आश्रय माने जीवन, प्राण। आश्रय नहीं तो जीवन नहीं। मछलीका आश्रय जल है।

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—सारे आश्रयोंको—सारे धर्मोंको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जाओ—'**मामेकं शरण व्रज।**' फिर बोले—तुम्हें कुछ करना-कराना नहीं, मेरी जिम्मेदारी हो गयी—'**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।**' कई भाष्यकार पापका बड़ा अच्छा अर्थ करते हैं कि जो बन्धन करे, वह पाप है। इसलिये पुण्य भी पाप हुआ और पाप तो पाप है ही। शुभ कर्म भी पाप और अशुभ कर्म भी पाप। बेड़ी चाहे सोनेकी हो अथवा लोहेकी, दोनों बाँधती हैं। संसारके सुख भी बाँधते हैं और संसारके दुःख भी बाँधते हैं। पुण्यका फल है संसारके सुख और पापका फल है संसारके दुःख। अतएव पाप-पुण्य दोनों बन्धनकारक होनेसे साधकोंके लिये दोनों ही त्याज्य हैं। पुण्य करना न छोड़े, बल्कि ऐसी अवस्थामें पुण्य करके उसमें सकामभाव छोड़ दें तो वह पुण्य भगवान्‌की पूजा बन जाता है। इस प्रकार सबका आश्रय छोड़कर केवल जो भगवान्‌के आश्रयमें आ जाय, उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। आश्रयमें आया नहीं कि हो गयी। संसारमें कभी पुत्र कहता है—तुम मेरे, कभी धन कहता है—तुम मेरे, कभी क्रोध-काम कहते हैं—तुम मेरे। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, भोग, राग, प्राणी पदार्थ—न मालूम कौन-कौन मेरे-मेरे कहकर हमें फाँसे हुए हैं। जब भगवान् आ जाते हैं तो वे कहते हैं—हटो यहाँसे, यह तो मेरा

है। सब भगवान्‌के हैं। भगवान्‌ने जहाँ मेरा कहा, वहाँ सबका आधिपत्य जीवपरसे उठ जाता है। जीवपर तभीतक संसारका आधिपत्य है, जबतक वह उनका नहीं हो जाता। जब उनका हो जाता है, तब सभी चोर भाग जाते हैं।

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३६)

ब्रह्माजी कहते हैं—हे श्रीकृष्ण! जबतक तुम्हारे नहीं हो जाते, तबतक राग-द्वेषरूपी चोर पीछे लगे रहते हैं और ये हमेशा लूटते रहते हैं। तभीतक यह घर जेलखाना बना रहता है और मोहकी बेड़ियाँ पैरोंमें पड़ी रहती हैं।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

राग-द्वेषरूपी परिपन्थी—बटमार—लुटेरे, किसी भी विषयमें मन लगावें; ये वहीं तैयार मिलते हैं। कबतक? जबतक भगवान्‌के नहीं हो गये। जब उनके हो गये, तब यह घर जेलखाना नहीं रहेगा, मन्दिर भले भगवान्‌का बन जाय। हम पुजारी बनकर रहेंगे, घरके कैदी बनकर नहीं रहेंगे। घरके कैदी नहीं रहेंगे, भगवान्‌के पुजारी हो जायँगे। जबतक भगवान्‌के नहीं हो जाते, तभीतक मोहकी बेड़ियाँ पैरोंमें पड़ी हुई हैं। भगवान्‌के हुए नहीं कि ये बेड़ियाँ तुरंत टूट जायँगी।

इसलिये जब हम भगवान्‌के हो जायँ और भगवान् कह दें कि तुम मेरे, तब सबका आधिपत्य उठ गया। जगत्‌में किसीकी ताकत नहीं जो अपना आधिपत्य बना सके। ये जितने भी देवता हैं, सभी अपना आधिपत्य किये बैठे हैं। यमराज अलग अपना हिस्सा मानते हैं और इन्द्र अलग। कहा गया है कि जीव जो हैं, वे देवताओंके भोजन हैं। ये देवता हमलोगोंको खाते रहते हैं। जब भगवान्‌के हो जायँगे, तब उनका आधिपत्य समाप्त हो जायगा। जीव जबतक भगवान्‌का भोग्य नहीं होता, तबतक जगत्‌का भोग्य है और जब इसने अपनेको गोपी बनाकर भगवान्‌का भोग्य बना दिया, फिर जगत्‌का आधिपत्य उठ गया। वह जगत्‌के भोगनेकी चीज नहीं

रही, फिर वह भगवान्‌का भोग्य हो गया। वह भगवान्‌का सुखसंवाहक है, भगवान्‌के सुखकी सामग्री है। उसका जीवन परम धन्य है। अबतक तो हम किसके जीवनके सुखकी सामग्री हैं? भोगोंके। जितने भी संसारके सम्बन्ध हैं, वे भोगोंको लेकर हैं और कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये हम भोगोंके गुलाम हैं, भगवान्‌के गुलाम नहीं। परंतु जिस दिन हम भगवान्‌के गुलाम हो जायँगे, उस दिन हमारी सारी गुलामी छूट जायगी। फिर हमारा स्वातन्त्र्य होगा।

लोग बहुधा कहते हैं कि हम स्वतन्त्र हो गये। उनसे पूछा जाय कि कैसे, क्या काम करते हो? तब यही उत्तर मिलता है कि जो मनमें आता है, सो करते हैं। अब वे मनके गुलाम हुए या नहीं। क्या मनका गुलाम स्वतन्त्र है? आजका शिक्षित व्यक्ति बड़े गर्वसे कहता है कि हमारा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य है अर्थात् हम किसी पुस्तकको, किसी व्यक्तिको, किसी महात्मा-संतको, किसी आप्तवाक्यको नहीं मानते हैं। क्या मानते हैं? जो भी मनमें आता है वह। यह बात गर्वसे कहते हैं अर्थात् मनके गुलाम हो गये। शास्त्र कहते हैं कि मनकी गुलामी छोड़ो। जहाँ मन जाय, वहाँ मत जाओ—

मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर।
मनके मते न चालिये, पलक-पलक मन और॥

मनके मतानुसार यदि चलें, तब मन एक क्षण यह बात बतायेगा और दूसरे ही क्षण दूसरी बात कहने लगेगा। इसलिये जो मनके गुलाम हैं, वे भगवान्‌के दास कैसे हो सकते हैं? जबतक हम भगवान्‌के दास नहीं होते, तबतक हमारी गुलामी कभी दूर नहीं हो सकती। हम उस गुलामीको कुछ भी नाम दे दें, कर्म-स्वातन्त्र्य कह लें। एक मौलवी लियाकत हुसैन कलकत्तामें रहते थे। वे स्वदेशी आन्दोलनमें मेरे साथ थे। उन्होंने एक दूकान खोल रखी थी। दूकान नकली थी। वे क्रान्तिकारी व्यक्ति थे। दूकानमें कुछ रुपयोंका स्टेशनरीका सामान—रबर, पेंसिल इत्यादि था। उस दूकानका नाम था—'कुबेरभण्डार'। इसी प्रकारसे हम अपना नाम कुछ भी रख लें। नाम रखनेसे तबतक वह चीज नहीं आती है, जबतक वस्तुतः उस प्रकारकी स्थिति न हो। जबतक वह वस्तु नहीं है, तबतक नामका कोई मूल्य नहीं है।

इसलिये जब हम भगवान्‌के वास्तवमें हो जायँ, भगवान् कह दें

कि तुम मेरे हो, तब हमें स्वतन्त्रताका अनुभव होगा। फिर जगत्की कोई भी स्थिति हमारे मनको हिला नहीं सकेगी। अभी तो जरा-सा प्रतिकूलताका भाव दीखा तो चिंता हो जाती है कि अब क्या होगा? यह चिंता क्या सिद्ध करती है? यह कि हम किसी चीजकी आशा रखते हैं। हम किसी वस्तुके गुलाम हैं। बड़ी चिंता होती है। कभी सुख होता है और कभी दुःख। सुख भी गुलामीका होता है। वह वस्तु नहीं मिली तो सुख नहीं होगा। हमारा सुख क्या है? यदि अनुकूल वस्तु प्राप्त हुई तो सुख और नहीं मिले तब दुःख होता है। हमारा अपना सुख वस्तुतः रहा ही नहीं। हम उस वस्तुके गुलाम हुए या नहीं? यदि ऐसी स्वतन्त्रतामें हमें दुःख है तब हम स्वतन्त्र कहाँ है? स्वतन्त्र तो तब होंगे, जब जगत्की कोई भी वस्तु-परिस्थिति न हमें सुखी बना सके और न दुःखी बना सके। हमारा जो अखण्ड अनन्त आनन्द है, उस आनन्दमें जगत्का कोई भी पदार्थ, कोई प्राणी, कोई स्थिति, कोई भी परिस्थिति किसी प्रकारका प्रभाव नहीं डाल सकते। वह एकरसमें नित्य स्थित है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

(गीता ५/२०)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १७)

इसका अर्थ क्या है? संसारकी कोई स्थिति जिसके मनमें उस स्थितिके कारण हर्ष नहीं ला सकती, संसारका कोई प्राणी-पदार्थ जिसके मनमें द्वेष नहीं पैदा कर सकता, संसारका कोई प्राणी-पदार्थ जिसके मनमें शोच नहीं पैदा कर सकता और संसारके किसी प्राणी-पदार्थके लिये जिसके मनमें आकांक्षा नहीं हो सकती, इस प्रकारका शुभाशुभका परित्यागी, '**सर्वधर्मान्**'—सभी धर्मोंका परित्याग करनेवाला ही स्वतन्त्र है। वह एकमात्र भगवान्का है। यदि ऐसा नहीं है फिर दूसरोंकी आशा करे, दूसरोंके भरोसे अपने सुखको बन्धनमें रखे। अमुक स्थिति हो; तब सुख हो, अमुक वस्तु-प्राणी मिले; तब सुख हो—हमारा इस प्रकारका सुख पराधीन सुख है, परतन्त्र सुख है। हम गुलाम हैं। स्वतन्त्र कौन है? जिसका सुख निरन्तर

उसके पास है। संसारकी कोई स्थिति उसके सुखको हिला नहीं सकती। वह सुख उसका अपना है। उसके पास है, नित्य है, सत्य है। किसी वस्तुके अधीन नहीं है। वस्तु आये या जाय, रहे या नष्ट हो, एक हो या बहुत हो अथवा अनेक होकर सब नष्ट हो जायँ, परंतु उसके अपने सुखपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। परंतु जिसका सुख किसी वस्तु, प्राणी या अवस्थाके अधीन है, वह परतन्त्र है—गुलाम है। वह बन्धनमें है, सुखी कहाँ है? सुखी वह है जिसका सुख अपने पास है। जो रात-दिन है, हर पल है, प्रत्येक अवस्थामें है, एकरस है, स्वतन्त्र है, नित्य है, सत्य है और अवश्यमेव है। इस प्रकारका जो आत्मसुख है, वह जिसके पास है वही स्वतन्त्र है। वह जिसके पास है, वह बन्धनसे मुक्त है। वह भगवान्‌का हो गया।

हम भगवान्‌के हो जायँ, तब भगवान् कह देंगे कि हम तुम्हारे हैं। जब भगवान् हमारे हो गये, तब हम किसीके नहीं रहे। सारे बन्धनोंपरसे दावा उठ गया। जो अपना-अपना कहकर हमें आजतक बाँधे थे, भगवान्‌की शरणमें आते ही सब कह देंगे कि हम झूठे हैं। हम असत्य कह रहे थे। यह चीज तो हमारी नहीं है। यह तो भगवान्‌की है। फिर सब हमसे अलग होकर हमको स्वतन्त्र बना देंगे। यही सच्चा स्वातन्त्र्य है। उच्छृङ्खलताका नाम स्वतन्त्रता नहीं है। इतनी स्वतन्त्रता हो कि कोई प्राणी-पदार्थ, परिस्थिति इसपर कोई प्रभाव न डाल सके। हम सर्वथा और सर्वदा आत्मस्वतन्त्र हैं। देहके गुलाम, मनके गुलाम और इन्द्रियोंके गुलाम रहकर स्वतन्त्र नहीं हो सकते।

हम भगवान्‌के होकर उनके शरणागत हुए नहीं कि सारे पापोंका नाश बिना भोगे हो गया। जैसे हजारों वर्षोंका बंद मकान हो, उसमें प्रकाश नहीं आता हो और उसे खोलकर आप उसमें रोशनी ले जाइये, फिर हजारों वर्षोंका अंधकार यह नहीं कहेगा कि दो-चार घड़ी हमें और रहने दो। इतने दिनोंतक हमारा आधिपत्य रहा, कुछ समय और रहें, तब खाली करेंगे। प्रकाश आया नहीं कि अंधकार समाप्त हुआ। इसी प्रकार सारी कर्मराशि ध्वंस हो जाती है, जल जाती है, जहाँ भगवान्‌की कृपाका प्रकाश आता है।

जहाँ सच्चे संतका मिलन होता है वहाँ यह प्रकाश अपने-आप आता है, और उस प्रकाशमें सारे अंधकारका विदूरीकरण ही नहीं होता—

विनाश हो जाता है। यदि जड़ रह जाय तब तो वह फिर पनप सकती है। पापका समूल नाश हो जाता है। अधूरा ज्ञान ज्ञान नहीं होता। इसीलिये परोक्षानुभूतिको विज्ञान नहीं कहते। इसीलिये वैध भक्तिको वास्तविक भक्ति नहीं कहते। इसीलिये कर्ममात्रका नाम कर्मयोग नहीं होता। कर्मयोग वह है जिसमें सकामभाव नहीं है। भक्ति वह है जहाँ केवल प्रेम-ही-प्रेम है। ज्ञान वह है जहाँ तत्त्वका प्रकाश हो गया। ऐसा जहाँपर है, वहाँ अधूरापन नहीं है।

एक सच्ची बात और—यदि उसे पाप करनेकी सहायतामें लगाया, तब पाप दूर कैसे होंगे? कोई कम तौलता है—पाप करता है। उसे मना करनेपर वह कहता है कि सब करते हैं, इसलिये हम भी करते हैं। गङ्गाजीमें स्नान करते हैं, फिर उनके पाप नहीं कटेंगे। जो मांस खानेके लिये, शराब पीनेके लिये गङ्गाजीका सहारा लेते हैं उनके पाप नहीं धुलते। कोई कहे कि आप पहरा दो ओर मैं पाप करूँ, फिर क्या होगा? गङ्गाजी पूर्वके सारे पापोंको नाश कर देती हैं, परंतु यह नहीं कहती हैं कि तुम हमारा सहारा लेकर नित्य पाप करो। जो गङ्गाजीका सहारा लेकर रोज पाप करते हैं, वे गङ्गाजीका अपमान करते हैं। उनका पाप नष्ट नहीं होगा।

मैं दोनों बातें कहता हूँ। एक—राम-नामसे, गङ्गा-स्नानसे, संत-मिलनसे पाप-नाश होगा ही, होगा ही, होगा ही। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है। मैं आपकी बात मानकर क्यों कह दूँ। यह मेरा अनुभव है। मैंने एक चीज खायी है, आपने उसका स्वाद नहीं लिया है और आप कहते हैं कि स्वाद नहीं आया। फिर मैं कैसे आपकी बात मान करके अस्वीकार कर दूँ कि स्वाद नहीं आया, जबकि मैंने खाया, स्वाद पाया। दूसरी बात—लेकिन साथ-ही-साथ यह भी मानते हैं और बार-बार कहते हैं कि राम-नामके भरोसे, राम-नामकी सहायता लेकर, गङ्गाजीकी सहायता लेकर, संतोंकी आड़ लेकर, भगवान्‌की आड़ लेकर जो पाप करते हैं, उनके पाप धुलते नहीं, बल्कि उनके पाप तो और वज्रलेप होते हैं।

******

दुःख क्यों आते हैं, सुखी कैसे रहें?

हमने जो कुछ भी कार्य अबतक किये हैं वे सारे कर्म जमा हैं, संगृहीत हैं, एकत्र हैं, संचित हैं। इन्हीं कर्मोंका नाम है—संचित कर्म और जो नये कर्म हम इस समय कर रहे हैं उनका नाम है—क्रियमाण तथा उन संचित कर्मोंमेंसे जो कर्म एक जन्मके लिये भोग देनेको तैयार हो गये, उन भोगदानोन्मुख कर्मोंका नाम है—प्रारब्ध। यह शास्त्रीय परिभाषा कर्मोंकी है। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—यह तीन प्रकारकी कर्मोंकी संज्ञा है।

मनुष्य यदि कर्तापनके भावको छोड़ दे—'मैं करता हूँ' यह भाव अगर नहीं रहे, सकाम भाव न रहे तब जैसे भुना हुआ बीज अङ्कुरित नहीं होता है, उसी प्रकार वे कर्म संचितमें नहीं जाते हैं, फल नहीं देते हैं ओर जो पूर्वके संचित कर्म हैं जो गोदाममें पड़े मालकी तरह हैं, उसमें हम जब चाहें आग लगा करके जला सकते हैं। ज्ञानाग्निसे सारे कर्म जल जाते हैं—

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥' (गीता ४। ३७)

अब बचे प्रारब्धकर्म अर्थात् जिनका फल आरम्भ हो गया है। प्रारब्धकर्म भोगने ही पड़ते हैं। बड़े-बड़े ऋषियोंको प्रारब्धवश कर्म भोगना पड़ता है। रामकृष्ण परमहंसको गलेमें कैंसर हो गया था। भीष्म पितामहके रोम-रोममें बाण लग गये। उनके शरीरमें दो अंगुल जगह भी नहीं बची, जहाँ बाण न लगा हो। इतने बाणोंसे उनका शरीर विद्ध हो गया। वृन्दावनमें रामकृष्णदासजी बड़े भारी महात्मा थे। उनको भी कैंसर हो गया था। ये प्रारब्धके भोग भोगने ही पड़ते हैं, परंतु प्रारब्धके भोगमें यदि दृष्टि बदल जाय तो वे भोग दुःखदायी नहीं होते हैं। यह मान लिया जाय कि भगवान्‌का विधान मङ्गलमय है और मुझे कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये यह विधान किया गया है। हम एक बड़े भारी कर्जसे छुटकारा पा रहे हैं, तब दुःख नहीं होगा। 'भगवान् अपने मनकी कर रहे हैं और हमें अपने समीप लेना चाह रहे हैं'—यह भाव हो तब दुःख नहीं होगा।

प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—स्वेच्छासे, अनिच्छासे और

परेच्छासे। हमारे मनमें आ गयी और हमने जानबूझकर आगमें हाथ डाल दिया और हाथ जल गया तो यह स्वेच्छाकृत प्रारब्ध भोग है। गङ्गाजीके किनारे जो घाट बन रहा है वहाँ शामको पत्थरमें डायनामाइट लगाकर तोड़ा गया तो उसमेंसे एक छोटा-सा पत्थर उछला और हमारे एक भक्त ठाकुर साहब हैं, बड़े सज्जन हैं वे शिवालयसे निकले ही थे कि उन्हें लग गया। उनका सिर फूट गया। कोई चाहता नहीं था कि लगे और उन्होंने प्रयत्न भी नहीं किया कि लगे, परंतु लग गया। इसका नाम है—अनिच्छा-प्रारब्ध। किसीकी इच्छा नहीं थी लेकिन संयोग बन गया। वे यदि एक मिनट पहले वहाँसे निकल गये होते अथवा एक मिनट बाद आते तो नहीं लगता। यह अनिच्छा-प्रारब्ध है। हमें यह समझना चाहिये कि अनिच्छा और पर-इच्छासे जो होता है वह भगवद्-इच्छासे होता है। भगवान्‌की इच्छासे जो होता है वह भगवान्‌का मङ्गल-विधान है। यदि इस प्रकार मान लें, तब प्रारब्धके भोगका दु:ख नहीं होगा। प्रारब्ध-भोग तो होगा ही, लेकिन केवल भोग होगा।

एक सज्जनने प्रश्न पूछा था कि आप कहते हैं जब दु:ख आये तो उसको भगवान्‌का आशीर्वाद माने, भगवान्‌का मङ्गल-विधान माने, भगवान्‌का स्वरूप माने। दु:खमें किसीपर दया करना, दु:खमें किसीको सुख पहुँचाना, दु:खीका उपकार करना—यह तो धर्म है, परंतु दु:ख यदि उसके लिये भगवान्‌का मङ्गल-विधान है, तब हम उसे सुख पहुँचाने जाकर भगवान्‌के मङ्गल-विधानमें बाधा देते हैं। क्या ऐसा करना ठीक है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जिसपर दु:ख आया है, उसका यह कर्तव्य है कि वह इस बातको समझे।

एक बात बहुत ध्यानमें रखनेलायक है और यह ध्यानमें आ जाय तो बहुत मानसिक संकट और मानसिक पाप टल जाते हैं। वह यह कि हमको बिना हमारे पूर्वके प्रारब्धकर्मके कोई दु:ख नहीं दे सकता; यह सिद्धान्त है। पहले होता है कारण, उसके बाद होता है तज्जनित कार्य। बिना कारणके कार्य नहीं होता है—यह नियम है। हमें जो कुछ दु:ख-सुख प्राप्त होते हैं वे कार्य हैं और इनका कारण पहलेसे मौजूद है। बिना कारणके अकस्मात् कोई कार्य नहीं होता है। भगवान्‌के न्याय-राज्यमें बिना कसूर, बिना अपराध किसीको दु:ख मिल जाय, विपत्ति मिल जाय और

बिना कुछ किये अनायास उसे सुख मिल जाय, सम्पत्ति मिल जाय— ऐसा नहीं होता है। यदि ऐसा हो तब तो अन्धाधुन्ध राज्य हो, अन्याय राज्य हो भगवान्‌का, परंतु ऐसी बात नहीं है।

'अच्छे कर्मका फल अच्छा और बुरे कर्मका फल बुरा'—यह निश्चित सिद्धान्त है। किसी मुहूर्तमें यदि सुबुद्धिवश हम किसीको सुख पहुँचानेमें निमित्त बन जायँ तब यह नया धर्मकार्य, पुण्यकर्म करते हैं। उसका फल हमें मिलेगा। उनको जो सुख मिला, वह मिला उनके प्रारब्धसे ही। हम अगर निमित्त नहीं बनते, तब भी मिलता। भगवान् उसका विधान करते। परंतु हम किसीके अच्छेमें निमित्त बनें—किसीका हित करनेमें, किसीको सुख पहुँचानेमें यह हमने नवीन कर्म किया। ऐसा करना चाहिये। इसी प्रकार हमें यदि दुःख प्राप्त होता है तो वह हमारे प्रारब्धसे ही होता है। हमें कोई दुःख दे नहीं सकता, परंतु यदि कोई हमें दुःख देनेमें निमित्त बनता है तब वह नया कर्म करता है और उसको पाप लगेगा। परंतु हमें यह समझना चाहिये कि हमें जो यह दुःख मिला है, वह हमारे अपने कर्मसे मिला है। इसलिये उसपर क्रोध करनेका, उसपर हिंसा करनेका कोई कारण नहीं है।

ये दो बातें अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये—

(१) हमको कोई दुःख नहीं दे सकता बिना हमारे प्रारब्धके। इसलिये हमारे दुःखमें यदि कोई निमित्त बनता है तो वह अपना बुरा स्वयं करता है। स्वयं अपने लिये खाई खोदता है। वह भूला हुआ है। इसलिये दयाका पात्र है, क्षमाका पात्र है।

(२) हम किसीको दुःख नहीं पहुँचा सकते बिना उसके प्रारब्धके, परंतु दुःख पहुँचानेकी इच्छा करते ही हम नया पाप कर बैठते हैं। हमें उसका फल अवश्य मिलेगा।

अतएव जब दूसरा कोई हमें दुःख पहुँचाये तब उसे अपने प्रारब्धका भोग मानें और उसपर रोष न करें। हम किसीको दुःख पहुँचा नहीं सकते बिना उसके प्रारब्धके। इसलिये वैर होनेपर भी किसीको दुःख पहुँचानेकी चेष्टा करके नया पाप न करे। ये दो सिद्धान्त मान लेने चाहिये।

हम जो बदलेकी भावना करते हैं—प्रतिहिंसा, यह एक बहुत बड़ा अपराध है। यह प्रायः सभीमें होता है। छोटे बच्चे हम बड़ोंसे अच्छे हैं।

बच्चे आपसमें लड़ लेते हैं और थोड़ी देरमें भूल जाते हैं। बड़े लोगोंमें, बुद्धिमान् लोगोंमें कहीं आपसमें वैमनस्य हो गया तो उम्रभर ही नहीं, मरनेके बाद भी उस वैर-भावनाको साथ ले जाते हैं कि बदला लेंगे और वे बदला लेनेके लिये न मालूम क्या-क्या बनकर आते हैं।

पद्मपुराणमें पाँच प्रकारके पुत्र बताये गये हैं, उनमें एक बदला लेनेवाला बेटा भी होता है। बदला लेनेवाली गाय होती है। बदला लेनेवाले पशु होते हैं। बदला लेनेवाला नौकर होता है। ये बदला चुकाकर जाते हैं; क्योंकि ये प्रतिहिंसा मनमें लेकर आये हैं।

यह प्रेतलोककी बात है और मैंने इस बातको जाना है कि प्रतिहिंसाकी भावनाको लेकर जो मरते हैं, उन्हें बड़ा बुरा प्रेत बनना पड़ता है। उनमें बड़ी जलन रहती है। वे बदला लेनेके लिये घूमा करते हैं। इसलिये किसीके प्रति द्वेष-वैर लेकर न मरे। मरनेके पूर्व द्वेष-वैरका त्याग कर दे। बदलेकी भावना बहुत सूक्ष्म रूपमें मनमें रहती है।

किसी व्यक्तिने हमें गाली दी और बदलेमें हमने दो-चार दे दी, तब तो हम उससे बढ़ ही गये। यदि किसीने एक गाली दी और बदलेमें हमने भी एक दे दी तो बदला ले लिया। लेकिन हमने सोचा कि हम गाली क्यों दें, हम तो अच्छे आदमी हैं, हम अपनी जबान गन्दी क्यों करें? पुलिसमें रिपोर्ट कर दें, अपने-आप फैसला हो जायगा। हमने बदला लेनेका कार्य कर दिया। स्वयं गाली नहीं दी और उसे गालीका दण्ड मिल जाय, ऐसी व्यवस्था सोच ली। यदि हम उससे अच्छा अपनेको मानते हैं तथा सोचते हैं कि कौन पुलिसमें रिपोर्ट करने जाय, क्यों गाली दें। सब भगवान् देखते हैं। भगवान् न्याय करते हैं। हमने भगवान्‌के दरबारमें शिकायत कर दी। उसे भगवान् दण्ड दें, ऐसी व्यवस्था हमने अपने मनसे कर दी। यह भी नहीं किया और अपनेको बहुत अच्छा मानते हैं—न बदलेमें गाली दी, न कोई मुकदमा किया और न ही भगवान्‌के दरबारमें फरियाद की, परंतु दस वर्षके बाद यदि गाली देनेवालेके घरमें आग लग गयी, तब हमें याद आ गया कि देखो, भगवान्‌के घरमें न्याय है। इसने गाली दी थी, इसे बदला मिल गया। इसके घरमें आग लग गयी, सारा सामान जल गया। चाहे आग लगी हो उसके किसी और कर्मसे, परंतु हमने उसको अपने खातेमें खतिया लिया। इसने हमको गाली दी थी, उसका

फल इसको मिल गया—यह बदलेकी भावना—प्रतिहिंसा है। बदला लेना क्यों होता है? इसलिये होता है कि दूसरेने हमारा बुरा किया—यह भाव जब मनमें जमता है तब बदला लेनेकी इच्छा होती है। इससे नुकसान अपना होता है। हमारा बुरा कोई भी नहीं कर सकता बिना हमारे प्रारब्धके। बिना द्वेषके हम कोई कार्यवाही करें, वह अलग चीज है परंतु मनमें द्वेष रखकर, हिंसा रखकर, प्रतिहिंसा रखकर कुछ करें, तब उससे हम बँधते हैं। जितने भी दुःख-सुख प्राप्त होते हैं, ये सभी हमें अपने कर्मोंसे मिलते हैं। कोई हमें देता नहीं है, दे सकता नहीं। बहुत बार लोगोंका बुरा करनेका प्रयत्न होता है परंतु जिसका बुरा करना होता है, उसका कुछ नहीं बिगड़ता है।

मुझे क्रान्तिकारी युगकी एक बात याद है कि कलकत्तेके एक पुलिस कमिश्नर थे—श्रीट्रेगर्ट। इन ट्रेगर्ट महोदयको मारनेकी चेष्टा क्रान्तिकारियोंने ७-८ बार की, परंतु वे मरे नहीं, हर बार बच गये। एक और सच्ची घटना बताऊँ। गवर्नरकी गाड़ी उड़ानेके लिये रेललाइनपर डायनामाइट रखा गया। अनिर्धारितरूपसे पहले मालगाड़ी आ गयी। मालगाड़ी उड़ गयी और गवर्नरकी ट्रेन बच गयी। किसीने सोचा भी नहीं था कि ट्रेन बचेगी। ट्रेन आने ही वाली थी कि डायनामाइट रखा गया था। यह घटना मुझे याद है। इसको इस परिप्रेक्ष्यमें देखें कि प्रारब्धका भोग किस प्रकार होता है। पुलिसने उस ट्रेन-विस्फोटके जुर्ममें उस रेललाइनपर कार्य कर रहे कुछ मजदूरोंको, उनके सरदारको तथा आस-पासके दो-चार लोगोंको गिरफ्तार कर लिया और मार-पीटकर उनसे जुर्म स्वीकार करवा लिया। न्यायालयमें उनका बयान हो गया। उन्होंने स्वीकार कर लिया कि डायनामाइट हमने रखा था। गवाहियाँ हुईं। सबूत इकट्ठा हो गये और अन्ततः उन सबको सजा हो गयी। किसीको दस वर्ष, किसीको बीस वर्ष और किसीको पाँच वर्षकी सजा हुई। इस घटनाके आठ-दस माह बाद प्रसिद्ध अलीपुर बमकाण्ड हुआ। इसी केसमें चितरंजनदासका नाम हुआ था। इसी काण्डमें कलकत्तेके मानिकटोला बागानमें श्रीअरविन्दके भाई वारिन्द्र इत्यादि पकड़े गये। वारिन्द्रने वक्तव्य दिया कि मालगाड़ी-विस्फोट-काण्डमें डायनामाइट मैंने रखा था। वह मेरा काम था और यहाँकी पुलिसने जबरदस्ती वहाँके लोगोंको फँसाया और स्वीकार कराया। सरकार इतनी लापरवाह है कि उसने उन पुलिस

अफसरोंको इनाम बाँटा और उनकी पदोन्नति की। उनके इस बयानसे हडकम्प मच गया। जाँच हुई, बात सच्ची थी ही। जब सच सामने आया तो जिनको सजा हो गयी थी, उन सबको छोड़ा गया। जो अधिकारी तरक्की पा गये थे, उनको पदावनत किया गया। कुछ निलम्बित हुए और कुछको सेवासे ही बर्खास्त कर दिया गया।

यह प्रारब्धका भोग है। उन लोगोंने डायनामाइट रखा नहीं था, परंतु उसका अभियोग उनपर लगा और उन्होंने सजा काटी। यह परेच्छा-प्रारब्धका भोग है। उनको उतने दिनोंका जेलजीवन व्यतीत करना था। वह इस निमित्तसे हुआ। फिर उनका परेच्छा-प्रारब्ध समाप्त हुआ और नया प्राप्त हुआ।

इस प्रकार संसारमें जो कुछ कर्मका भोग हो रहा है, वह सारा मनुष्यके अपने कर्मका भोग होता है। सुख-दुःखका दूसरा कोई दाता नहीं है। जो दूसरेको सुख-दुःखका दाता मानता है वह मूर्ख है, कुबुद्धि है। यदि इस प्रकार समझ ले तो दूसरेके प्रति दुर्भावना मिट जाय, एक बात। दूसरी बात, अगर दुःखभोगमें भक्तिभावसे मङ्गलमय भगवान्‌का स्पर्श पा ले, तब तो कुछ कहना ही नहीं है। यह बड़ी सुन्दर चीज है। जिस-जिसपर जब-जब विपत्ति आवे, जब-जब दुःख आवे, तब-तब उस विपत्तिमें, दुःखमें भगवान्‌का दर्शन करे। यह जरा कठिन बात है। कहना जितना सहज है उतना अपनेपर पड़े तब करना बड़ा मुश्किल होता है, परंतु ऐसा अभ्यास करना चाहिये। यह सबसे ऊँची चीज है कि मनुष्यपर जब-जब विपत्ति आये, दुःख आये, संकट आये तब-तब उसमें भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त करे कि इस रूपमें भगवान् आये हैं। इससे दुःख तो रहेगा नहीं, वस्तुका जैसा नाश होना है वैसा हो ही जायगा, परंतु भगवान्‌की प्रीति प्राप्त हो गयी।

बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में आया है कि यदि कोई रोगको तप माने तो उसे तपका फल मिलता है। कैसे? मनुष्य जब कोई तपस्या करता है तब उसे कष्ट होता है, परंतु उस कष्टमें चूँकि उसकी तपबुद्धि है। वह जान करके उसे स्वीकार करता है। कष्ट होनेपर भी उसे सुख होता है कि हम तपस्या कर रहे हैं। यहाँ पहले कृष्णानन्दजी रहते थे। मैंने देखा है कि वे ज्येष्ठ मासकी धूपमें और पौष मासमें गङ्गाजीमें घण्टों खड़े रहते थे। बड़ी दुर्बल-दुर्बल बुढ़िया माताएँ बद्रीनाथजी जाती हैं। वे चल नहीं सकतीं,

लाठी टेकती हुई, खाँसती हुई, दुःख भोगती हुई जाती हैं, परंतु इसमें उनकी सुखबुद्धि है कि बद्रीनारायणकी यात्रा कर रहे हैं।

इसी प्रकारसे रोगमें यदि तपबुद्धि कर लें तब उस रोगसे जो हमें मानस दुःख होता है, वह न हो और तपका फल मिल जाय। इसी तरह मृत्युके लिये लिखा है कि मनुष्य यदि मौतको निर्वाण मान ले, मृत्युके समय मोक्षमें मन रहे तो मृत्यु मोक्षदायिनी हो जायगी; मृत्युका दुःख नहीं रहेगा। इसी प्रकार प्रत्येक विपत्ति, प्रत्येक दुःख और प्रत्येक कष्टमें भगवान्का स्पर्श मान ले। यह सर्वोत्तम चीज है। इस रूपमें भगवान् आ रहे हैं और भगवान्ने आकर हमें अपने स्पर्शका सुख दिया है—इस प्रकार पहचान ले भगवान्को। यदि ऐसा न हो सके तब कम-से-कम यह माने कि जो कुछ हो रहा है यह भगवान्के मङ्गलविधानसे हो रहा है। भगवान् मङ्गलमय हैं। वे अमङ्गल कर ही नहीं सकते। भगवान् हमारे सुहृद् हैं, हमारा अमङ्गल नहीं कर सकते। भगवान् सर्वज्ञ हैं, उनसे भूल नहीं हो सकती। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, इसीलिये दूसरा कुछ करनेमें समर्थ थे, परंतु यह कर रहे हैं अतएव इसीमें हमारा मङ्गल है।

—ऐसा सोचकर इसमें अपना मङ्गल मान ले, तब दुःख नहीं होगा। भगवान्की स्वीकृति प्राप्त होगी। तीसरी बात, दुःखको अपने किये हुएका फल मान ले कि यह भगवान्के मङ्गलविधानसे हो रहा है और हमारे कर्मका ऋण उतर रहा है। इससे मनमें दुःख नहीं होगा और दूसरोंके प्रति आक्रोश भी नहीं होगा। इस बातको आदमी समझ ले तो दुःख छूट जायगा। ये जितने दुःख हैं, उन सभीका कारण है—प्रतिकूलभावना। उन्हें चाहते नहीं हैं फिर भी मिलते हैं और यह मान ले कि यह भगवान्के मङ्गलविधानसे हो रहा है, फिर प्रतिकूलता नहीं रहती। दुःखोंका अर्थ ही है—प्रतिकूलताकी अनुभूति। प्रतिकूलता हटी कि दुःख मिटा।

******

भगवान् केवल चाहसे मिलते हैं

जब किसी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा होती है और वह वस्तु अत्यन्त आवश्यक होती है, तब उसके न मिलनेपर दुःख होता है—यह स्वाभाविक है। परंतु यदि वह वस्तु अनावश्यक है, तब मिली या नहीं मिली कोई बात नहीं। यदि मिल गयी तब कौतूहल होता है और नहीं मिली तो कोई हर्ज नहीं, दुःख नहीं होता है, परंतु जो वस्तु आवश्यक है, जो जीवनमें जरूरी है, जिसके बिना काम नहीं चलता, जिसमें मनकी अत्यन्त प्रीति है, ऐसी वस्तुके न मिलनेपर दुःख होता हैं।

एक सज्जनने पूछा कि साधन करते-करते इतने दिन व्यतीत हो गये, परंतु न तो भगवान्का प्रेम प्राप्त हुआ और न भगवान् प्राप्त हुए, इसका क्या कारण है? इसका कारण तो भगवान् जानते हैं, अपने तो जानते नहीं फिर क्या बतायें। लेकिन मैंने उनसे पूछा कि भगवान्के न मिलनेपर क्या आपको दुःख है? और प्रेम न मिलनेपर आपके चित्तमें अत्यन्त बेचैनी है क्या? वे बोले—कभी-कभी होती है। मैंने कहा कि यदि होती है तो बड़ा अच्छा, लेकिन आपने कोई व्यापार किया होता—यह सोचकर कि इसमें इतना लाभ होगा और उस व्यापारमें लाभकी जगह घाटा हो जाता तब उस स्थितिमें जैसी बेचैनी होती वैसी बेचैनी होती है क्या? उन्होंने कहा—वैसी तो नहीं है। वे सच्चे व्यक्ति हैं। उन्होंने ठीक-ठीक बता दिया। जब संसारकी वस्तुओंके न मिलनेपर जैसी बेचैनी होती है वैसी बेचैनी भगवान्के न मिलनेपर नहीं होती है, तब यह मानना चाहिये कि भगवान्की प्राप्तिकी जैसी चाह होनी चाहिये वैसी चाह हमारे अन्दर पैदा नहीं हुई है। उन सज्जनने फिर कहा कि, आप एक बड़ी सीधी बात बताते हैं कि भगवान्का मिलना सुलभ है, परंतु मुझे तो इतना साधन करनेपर भी नहीं मिले। मैंने उनसे कहा—भैया! भगवान्का मिलना सुलभ इसलिये बताते हैं कि भगवान् कर्मके फल नहीं हैं। भगवान् चाहके फल हैं। संसारके जितने भी भोग-पदार्थ, अवस्था, स्थितियाँ और प्राणी हैं, ये सबके सब कर्मसे मिलते हैं। वैसा कर्म पहले बना हुआ होता है—तभी उनका वैसा फल मिलता है।

संसारकी प्रत्येक स्थिति, अवस्थाकी प्राप्तिमें कर्म अपेक्षित है। वह चाहसे—इच्छासे नहीं मिलती है। धनकी चाह, मानकी चाह और अधिकारकी चाह कौन नहीं करता है, परंतु सबको नहीं मिलता है। इनके लिये लोग अनन्य चाह करते हैं, रोते हैं, रात-दिन रोते हैं, परंतु निराशा ही मिलती है। कठोर परिश्रम करनेपर भी, चाह करनेपर भी धन नहीं मिलता है, परंतु भगवान् चाह करनेपर मिल जाते हैं। इसलिये भगवान्का मिलना सहज हुआ या नहीं? वे बोले—इस दृष्टिसे सहज है। फिर मैंने पूछा—आपने धनकी जितनी चाह की, उतनी चाह भगवान्के लिये भी की, क्या आप ऐसा मानते हैं? उन्होंने कहा—उतनी चाह नहीं की। मैंने उनसे कहा—जब आपको भगवान्से मिलनेकी चाह ही नहीं है तब भगवान्को आपसे मिलनेकी क्या परवाह है? आप सरीखे लाखों भक्त हैं।

भगवान् अपनी चाह करनेवालेको मिलते हैं—यह सत्य है। वे यह नहीं देखते कि चाह करनेवाला कौन है? यह उनकी दया है। वे यह नहीं देखते हैं कि ब्राह्मण है या चाण्डाल है। वे नहीं देखते हैं कि यह पुरुष है कि स्त्री है, विद्वान् है या मूर्ख है। वे यह भी नहीं देखते हैं कि उसके अबतकके जीवनके इतिहासमें पाप है या पुण्य है, परंतु चाह तो देखते ही हैं। चाह है और नहीं मिले इसका अर्थ है कि चाहमें कमी है। चाह है कि नहीं इसकी कसौटी है—'**तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति**' (नारदभक्तिसूत्र १९)। इच्छित वस्तुके न मिलनेपर भयानक दुःख होता है। इसी प्रकार भगवत्प्रेमीको भगवानका स्मरण नहीं भूलता है। क्यों नहीं भूलता है? इसलिये नहीं भूलता है कि भूलते ही व्याकुलता आ आती है। जिस वस्तुके मिलनेपर अत्यन्त हर्ष होता है, उसके न मिलनेपर व्याकुलता होती है। जिसकी आवश्यकता होती है उसके न मिलनेपर व्याकुलता—बेचैनी होना स्वाभाविक है। जो चाहते हैं वैसा न होनेपर बेचैनी होती है, जैसे कहीं जानेके लिये तैयार होकर स्टेशनपर जायँ और देखते-देखते गाड़ी छूट जाय तब बड़ा दुःख होता है, यह कसौटी है।

यदि आप भगवत्प्रेम चाहते हैं, भगवान्का भजन चाहते हैं, भगवान्का मिलन चाहते हैं, तब इसके लिये छटपटाहट, व्याकुलता आपके मनमें होती होगी। अगर नहीं होती है तब चाहते ही नहीं है यह सीधी बात है। 'आप चाहते हैं'—इसकी परीक्षा यही है कि आप व्याकुल हैं अथवा नहीं। अगर

व्याकुल नहीं होते हैं तो इसका अर्थ साफ-साफ है कि आप चाहते नहीं है।

अतएव भगवान्‌से मिलनेकी चाह पैदा करनी चाहिये; क्योंकि भगवान्‌का मिलना किसी साधनाका फल नहीं है। भगवान्‌को प्राप्त करनेकी अनन्य उत्कट चाह जिसके मनमें पैदा हो जाय, उसके लिये विधियोंकी आवश्यकता नहीं है। कहा जाता है कि इतना लाख जप करनेपर भगवान् मिल जायँगे। यह ठीक है, शास्त्रीय बात है लेकिन उतने लाखकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् संख्यासे नहीं मिलते। भगवान् क्रियासे नहीं मिलते। भगवान्‌के लिये कोई बँधा नियम नहीं है कि इतने मोलमें मिल जायँगे। वे तो चाहसे मिलते हैं। जिसकी जैसी चाह हो, जो भगवान्‌के लिये जितना अधिक व्याकुल होता है, भगवान् भी उसके लिये उतने ही व्याकुल होते हैं, जो भगवान्‌से शीघ्र मिलना चाहते हैं, भगवान् भी उससे उतना ही शीघ्र मिलना चाहते हैं। इसलिये ऐसी अवस्थामें हमें एक ही बात देखनी है कि हमारी चाह वास्तविक है या नहीं और इस चाहमें वृद्धि करनी है।

अद्वैत वेदान्तमें भी यही बात है। वहाँ पर भी मुमुक्षाकी आवश्यकता है। जबतक तीव्र मुमुक्षत्व जाग्रत् नहीं होता है, तबतक मोक्ष नहीं मिलता है। शङ्कराचार्यजीने '**सर्ववेदान्तसारसंग्रह**' नामक अपने ग्रन्थमें मुमुक्षाके भेद किये हैं—मन्द, मध्य, तीव्र, तीव्रतर और फिर तीव्रतम। आगे जाकर फिर इनके भी तीन-तीन भेद हैं। लोग चाहते हैं कि मोक्ष मिल जाय। यह अच्छी बात है, परंतु मोक्षके लिये त्याग आवश्यक है और इस त्यागके लिये तैयार नहीं हैं। यह मन्द मुमुक्षा है। तीव्र मुमुक्षा वह है, जिसमें मोक्ष चाहिये और कुछ भी नहीं चाहिये।

इसी प्रकार भगवान्‌के प्रेमकी चाह, भगवान्‌के मिलनकी चाह जब तीव्रतर-से-तीव्रतम और अनन्य होती है, जहाँ दूसरी चाह ही न रहे और यह चाह अत्यन्त तीखी-से-तीखी हो जाय, बस, भगवान्‌के प्राप्तिकी यही शुभ वेला है। वहाँ देश, काल, पात्रके भेदभावकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह पात्र कौन है, वह देश कौन-सा है, वह काल कौन-सा है, इनका विचार नहीं रहता। देश, काल और पात्र—ये जगत्‌की वस्तुओंके लिये आवश्यक होते हैं। भगवान् सार्वदेशिक हैं, सार्वकालिक हैं और सबके हैं। भगवान् कहाँ, कब, किसको नहीं मिल सकते। भगवान् सबको मिल सकते हैं, जो चाहे उसको मिल सकते हैं। भगवान्‌की चाह—यह अत्यन्त आवश्यक

चीज है। केवल इसे ही साधकको पैदा करना है। जितने भी जप-तप होते हैं, वे सब इसी बातके लिये होते हैं, चाहे हम उनका नाम कुछ भी रखें। सबका ध्येय यही है कि भगवान्‌को प्राप्त करनेकी एकान्त चाह हृदयमें उत्पन्न हो जाय। निष्कामभक्तिका अर्थ क्या है? कुछ भी न चाहो और भगवान्‌से प्रेम कर लो। भगवान्‌की सेवाका कार्य करो।

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

(रामचरितमानस २।१३१)

भगवान्‌के अपने रहनेका घर—अपना घर कौन-सा है? थोड़े दिनोंके लिये आकर बस जायँ या किरायेपर ले लें अथवा माँग लें कि कुछ दिनोंके लिये मेहमान बना लो, ऐसा घर नहीं '**सो राउर निज गेहु।**' ऋषि कहते हैं कि एक घर मैं ऐसा बताता हूँ, जो आपके लायक तो नहीं है, परंतु आपका ही है, उसमें जाकर आप निरन्तर निवास करें। उन्होंने जो अन्य स्थान बताये हैं, उनमें निरन्तर नहीं कहा। '**बसहु निरंतर**' अपने घरमें बसनेमें संकोच कैसा, भय कैसा? अपना घर अपना ही है। '**जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु**' और, **तुम्ह सन सहज सनेहु**, यह बड़ी सुन्दर बात हृदयमें रखनेकी है। यदि यह आधा दोहा जीवनमें उतर जाय तो भगवान् आपके हो जायँगे। यह पक्की बात है, गारण्टी है। '**जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु**' जिसको कभी कुछ भी नहीं चाहिये। कभी और कुछ भी—ये दो बातें हैं। फिर प्रेम क्यों करता है? इसलिये कि प्रेम किये बिना रहा नहीं जाता। सहज प्रेम है। किसी हेतुको लेकर, किसी कामनाको लेकर, किसी गुणको देखकर, किसी रूप-सौन्दर्यको देखकर अथवा किसी महत्त्वको देखकर नहीं अपितु जिसका सहज स्नेह है। हे राघवेन्द्र! जिसका तुमसे सहज स्नेह है और जिसको तुमसे कभी कुछ भी नहीं चाहिये, उसका मन आपके रहनेका घर है। आप उसमें सदाके लिये बस जाइये। क्या विलक्षण भाव है।

दूसरी सारी इच्छाओंका सर्वथा विनाश करके मनुष्य जब एकमात्र इच्छासे केवल भगवान्‌को चाहता है तब पूर्वके किसी कर्मकी, किसी भावकी आवश्यकता नहीं होती, भगवान् स्वयं मिल जाते हैं। फिर इससे भी आगेकी एक और बात प्रेमीकी होती है, वह यह कि भगवान्‌के मिलनको नहीं

चाहता है। यह बड़ी विलक्षण बात है। जो मिलन भजनको रोक दे, वह मिलन प्रेमीके लिये वाञ्छनीय नहीं है, जो मिलन भजनमें बाधक हो जाय वह मिलन भक्तको वाञ्छनीय नहीं है। भक्त भगवान्‌के मिलनकी अपेक्षा भगवान्‌के भजनको अधिक प्रिय समझता है। वे मानते हैं कि भगवान् मिल जायँ और मैं उनका भजन छोड़ दूँ—ऐसा मिलन मुझे नहीं चाहिये। इसका परिणाम होता है कि भगवान् स्वयं चाहते हैं कि मैं मिलूँ। बुला लेते हैं, स्वयं उसके पास चले जाते हैं, सब तरहसे।

व्रजकी दो प्रकारकी भक्त गोपियोंका वर्णन है। एक वे जो केवल और केवल भगवान्‌को चाहती हैं और दूसरी जो भगवान्‌के साथ-साथ जगत्‌को भी चाहती हैं जैसे ब्राह्मण-पत्नियाँ। इनका बड़ा सुन्दर इतिहास है। वे ऋषि-पत्नियाँ घरोंमें रहतीं। उनके यहाँ यज्ञादि होता, नित्य यज्ञ एवं भगवान्‌का पूजन होता, अग्निहोत्र होता, तमाम वैदिक आचरण घरमें होते रहते और वे बहुत प्रसन्न रहतीं, परंतु इनके मनमें एक वासना थी। इन्होंने श्रीकृष्णके सम्बन्धमें यह सुन रखा था कि वे साक्षात् भगवान् हैं। ये उनसे मिलना चाहती थीं, उनका दर्शन करना चाहती थीं, परंतु इन ऋषियोंके घरमें दिन-रात वैदिक कर्मकाण्ड होता रहता था, जिसमें पार्श्वभागिनी चाहिये और यज्ञकी तैयारीसे इन्हें अवकाश ही नहीं मिलता था। इससे उनका चित्त व्याकुल रहता था। उनको ऐसा अवसर ही नहीं मिला कि कभी श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँ। ये ब्राह्मणदेवियाँ अपने मनोंमें निरन्तर दर्शनकी कामना किया करतीं। उधर यज्ञ हो रहे हैं और इधर इनके मन भगवान्‌की ओर आकर्षित हो रहे हैं। यही विचार करतीं कि कैसे भगवान्‌से मिलन हो जाय। उन्होंने सोचा कि श्रीकृष्ण जंगलमें तो आते होंगे। कभी जब भोजनका समय होता तब हमारे यहाँ आ जाते तो उस समय उनको भोजन करा देतीं। लेकिन तुरंत ही उन्हें अपने पतियोंका डर भी लगता कि वे ग्वाले सब बे-पढ़े-लिखे अहीरोंके लड़के हैं, वे यदि यज्ञमें आ जायँ और हमारे पण्डितजी लोग कह दें कि नहीं जिमायेंगे तब तो बहुत बुरा होगा। वे डर जातीं। ऐसा ही होता है कि बात पहले मनमें आती है फिर क्रियामें आती है।

एक दिन मङ्गलमय प्रभातमें भगवान् अपने सखाओंके साथ अरण्यमें गये। भगवान्‌की लीलासे उस दिन घरोंसे छाक आनेमें विलम्ब हो गया। कभी-कभी छाक वे स्वयं साथ लाते और कभी बादमें घरोंसे आता था।

उस दिन साथ नहीं लाये थे। इनका कार्यक्रम सब पहलेसे बना-बनाया होता है। **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** (गीता ११।३३)। सारी फिल्म पहलेसे बनी रहती है; यह तो केवल यवनिका उठाते हैं। उस दिन खाद्य-सामग्री साथ लाये नहीं और देर होने लगी तो सखाओंने कहा—'कन्हैया! भूख लगी है।' कन्हैया बोले—'क्यों नहीं घरसे लाये? अब मैं क्या करूँ?' सखाओंने कहा—'तुमने ही तो कहा था कि आज छाक मत ले चलो, इसलिये हम नहीं लाये।' इसपर कन्हैयाने कहा—अच्छा, एक कार्य करो। थोड़ी ही दूरपर ऋषि-मुनि, वेदज्ञ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं और यज्ञ भगवान्‌के लिये प्रसाद बना है। अच्छा-अच्छा पक्वान्न बना है। तुमलोग जाओ और उन द्विजों—भूदेवों—पृथ्वीके देवताओंसे कह दो कि श्रीकृष्ण सखाओंके साथ जंगलमें आये हैं, उन्हें बड़ी भूख लगी है, कुछ खानेको दो। सखाओंने कहा—वे दे देंगे? कन्हैयाने कहा—'जाओ माँगो। देखो, जब भूख लगी है तब जरा चेष्टा करनी चाहिये।' उन्हें भूख लगी ही थी, इसलिये बेचारे गये। वहाँ यज्ञमें आहुति दी जा रही थी। यज्ञ-धूमसे आकाशमण्डल आच्छादित था। बड़ा सुन्दर दृश्य था। ये जाकर वहीं खड़े हो गये। एक पण्डितजी द्वारा वहाँ आनेका प्रयोजन पूछनेपर बोले—हमारे कन्हैयाको बड़ी भूख लगी है, कुछ खानेको चाहिये। उन्होंने कहा—कौन कन्हैया? तब, सखाओंने कहा—हमारे श्यामसुन्दर। पण्डितजी उन्हें डाँटकर भगा दिया। वे बेचारे डरके कारण भाग आये और आकर कन्हैयासे बोले—कन्हैया! खानेको तो कुछ नहीं मिला। हाँ, फटकार जरूर मिली। फिर कन्हैयाने कहा—ऐसा करो कि जहाँ यज्ञ हो रहा है वहाँ न जाकरके घरके पीछेसे जाओ और ब्राह्मणियोंसे कहो कि 'माता! श्रीकृष्णको भूख लगी है। कुछ खानेको चाहिये।' ये सखा वहाँ डरते-डरते गये तब ब्राह्मणियोंने आनेका कारण पूछा। इन्होंने बताया कि हमारे कन्हैयाको भूख लगी है और हम सब भी भूखे हैं। कुछ खानेको चाहिये। वे बोलीं—सच्ची बात है? इन्होंने कहा—हाँ। ब्राह्मणियोंने कहा—फिर चलो। सैकड़ों देवियोंने उन पक्वान्नोंसे थाल भरा और चल दीं। एक ब्राह्मणीको ब्राह्मणदेवताने नहीं जाने दिया। उस ब्राह्मणीको भगवान्‌के वियोगमें इतनी छटपटाहट हुई कि उसके प्राण निकल गये। वह पहले ही वहाँपर जा पहुँची। जब वे थाल लेकर भगवान्‌के पास पहुँची तो उन्होंने कहा—

स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम्।

यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः॥

(श्रीमद्भा० १०।२३।२५)

भगवान्‌ने कहा—'महाभाग्यवती देवियों! तुम्हारा स्वागत है। आओ, बैठो। कहो, हम तुम्हारा क्या स्वागत करें? तुमलोग हमारे दर्शनकी इच्छासे यहाँ आयी हो, यह तुम्हारे-जैसे प्रेमपूर्ण हृदयवालोंके योग्य ही है।'

भगवान्‌ने उनका लाया हुआ नैवेद्य सखाओंसहित ग्रहण किया, फिर कहा—तुम लोग क्यों आयी? अब लौट जाओ। उन्होंने कहा—हमारे घरवाले नाराज होंगे। भगवान्‌ने आश्वासन दिया कि नाराज नहीं होंगे। फिर वे लौट गयीं। उन्होंने भगवान्‌को प्राप्त करनेकी जो आकांक्षा की तो भगवान्‌ने उन्हें अपने पास बुला लिया। उन्हें ब्रह्म-सांनिध्य मिल गया, भगवत्साक्षात्कार हो गया। भगवान्‌के श्रीमुखसे बात कर ली। उनका दिया हुआ नैवेद्य भगवान्‌ने स्वीकार कर लिया। उनको बड़े सुन्दर शब्दोंसे अपना लिया। भगवान्‌की अपनायी हुई इन देवियोंमें महान् दिव्य तेज उद्भाषित हो गया। उनके मुखमण्डल और उनके अन्दरसे दिव्य आभा प्रस्फुटित होने लगी। वे जब ब्राह्मणोंके पास पहुँची तब ब्राह्मणोंको यथार्थ ज्ञान हुआ कि जीवन तो धन्य इन्हींका है। ये धन्य हो गयीं। हमारा यज्ञ तो कुछ भी नहीं है—

धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥

(श्रीमद्भा० १०/२३/३९)

ब्राह्मणोंने पश्चात्ताप किया कि कहाँ हम भगवान्‌से विमुख हैं और ये भगवान्‌के सन्मुख हो आयीं। हमारे जन्मको धिक्कार है, हमारे द्विजत्वको धिक्कार, हमारे व्रतको धिक्कार, हमारे ज्ञानको धिक्कार, हमारे कुल और हमारी यज्ञ-क्रियाको धिक्कार है, जो हम भगवान्‌से विमुख रहे।

भगवान्‌को पानेकी इच्छा करनेपर, जिस प्रकारकी हमारी इच्छा होगी, उसी प्रकारसे उतने रूपमें भगवान् हमें अवश्य प्राप्त होंगे। भगवान्‌की प्राप्तिमें जो कुछ विलम्ब है, वह हमारी चाहतके अभावका विलम्ब है— चाहकी कमीका विलम्ब है। चाहकी कमी जाननेकी कसौटी हम सबके पास है। हमारे मनमें व्याकुलता है या नहीं। जिस वस्तुको प्राप्त करनेकी उत्कट चाह हमारे मनमें होती है उसके अप्राप्त होनेपर दुःख होता है, बेचैनी होती है। किसीका पुत्र बीमार है, मरणासन्न है तब उसको बचानेके लिये कितनी

व्याकुलता होती है। किसीका हृदय फेल हो रहा है, तब उसको कितनी व्याकुलता होती है जीवनकी। परंतु यहाँ सारा कर्म फेल हो रहा है, मानव-जीवन व्यर्थ जा रहा है। इससे बढ़कर जीवनकी असफलता और क्या होगी? मानव-जीवनका दिवाला निकल जा रहा है। यहाँपर कुछ नहीं कमाया, सब कुछ खोकर यहाँसे जा रहा है फिर भी उसको दुःख नहीं होता, तब चाह कहाँ है?

इसलिये अपने मनमें भगवान्‌की चाह पैदा करनी चाहिये। जितने भी साधन हैं, वे चाह पैदा करनेके लिये हैं। यह चाह धीरे-धीरे पैदा होगी। भगवान्‌के नामसे, जपसे, सत्सङ्गसे, तीर्थस्थानसे, सबसे होगी। किसीका खण्डन नहीं। परंतु ये केवल चाह पैदा करेंगे तीव्रतर रूपमें भगवान्‌से मिलनेकी। बहुत लोग पूछते हैं कि भजन नहीं होता है, क्या करें? भजन होता नहीं है या करते नहीं हैं? वे कहते हैं कि करना चाहते हैं, परंतु होता नहीं है। यह बात समझमें नहीं आती है। जिसको धनकी चाह रहती है, उसको धनकी याद नहीं रहती, यह कैसे माना जाय? जो भूखा है वह भोजनको भूल जाय, यह कैसे माना जाय? सीधी बात तो यह है कि यदि हमारे मनमें चाह है तो हम भूल नहीं सकते। यदि भजनकी चाह है तब भजन हुए बिना रह सकेंगे नहीं। फिर यह प्रश्न ही नहीं बनता है कि भजन चाहते तो हैं, परंतु होता नहीं है। अवश्य ही भजन होनेकी चीज है, परंतु होनेकी चाह होनी चाहिये। भक्तको क्षणभरके लिये भगवान्‌का विस्मरण हो जाय तो उसे अपार दुःख होता है। उसके मनमें इतना धिक्कार आता है कि वह कहता है कि मेरे समान कोई पापी नहीं।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नमकहरामी॥

सूरदासजी एक दिन क्षणभरके लिये भगवान्‌को भूल गये। उन्होंने विचार किया कि यह भूल क्यों हो गयी? वे पश्चात्ताप करने लगे कि मेरे समान पापी कोई नहीं है—'**मो सम कौन कुटिल खल कामी**'। उन्होंने तीन बातें कहीं—कुटिल—जान-बूझकर टेढ़ा कर्म—कुटिल कर्म करनेवाला, खल अर्थात् दुष्ट और कामी—संसारके भोगोंमें फँसा हुआ। क्षणभरके लिये भगवान्‌को भूलनेपर ऐसे विचार आये।

गाँधीजीकी डायरीमें एक दिन मैंने एक घटनाका विवरण देखा—

एक बार वे दक्षिण भारतके दौरेपर गये थे। वहाँ चरखेपर सूत कातनेका कार्यक्रम था, उनका शहरमें शाम छः बजे पहुँचनेका कार्यक्रम था; फिर प्रार्थनाके उपरान्त कार्यक्रममें भाग लेना था। मार्गमें विलम्बके कारण वे रातके नौ बजे पहुँचे। अतएव डेरेपर न जाकर सीधे कार्यक्रम-स्थलपर चले गये और वापस आकर सो गये। उनके साथ काका कालेलकर और महादेव भाई साहब भी थे। प्रातः चार बजे जब गाँधीजी उठे तो सर्वप्रथम उन्होंने महादेव बाबूसे पूछा कि रातको तुमने प्रार्थना की? उन्होंने कहा कि बापू! मैं भी आपके साथ गया और आनेपर आप भी सो गये और मैं भी सो गया। कालेलकरजीसे गाँधीजीने पूछा तो उन्होंने भी कहा कि मैं भी सो गया। गाँधीजी बोले—मैं जीवित कैसे रह गया! भगवान्‌की प्रार्थनाको मैं भूल गया। मेरा जीवन रहना नहीं चाहिये। ऐसी बात होनी चाहिये।

भजन जब जीवन बन जाता है तब उसके बिना रहा नहीं जाता है। भजन दो प्रकारसे होता है। एक भजन किया जाता है और एक भजन होता है। जो भजन किया जाता है, उसमें हम देखा करते हैं, कितना समय हो गया। नित्यकर्मका आधा घंटा समय नियत है, यह व्यतीत हो जाय तब बाहर जाकर अखबार देखें। क्या करें, नियम ले रखा है इसलिये करना है। यह जबरदस्ती करना है। किसीने कह दिया कि लाख नाम जप लोगे तो तुम्हें बेटा हो जायगा। बेटा चाहिये इसलिये लाख नाम जपते हैं। यदि बेटा नहीं हुआ तो छोड़ देंगे, दूसरी राह देखेंगे और कहेंगे कि कहाँ गये वे महात्माजी, उन्होंने मेरा समय बर्बाद कराया। लाख नाम लिया और कुछ नहीं हुआ। यह भजन थोड़े है। जहाँ भजनमें यह भाव है, वहाँ व्यक्ति ऊबता है, उसे भारी लगता है। फिर वह भी छोड़ देता है। भजन तो वह है जिसके बिना रहा न जाय। कोई कहे भी कि छोड़ दो, तब कहेंगे कि छोड़ें कैसे? रहा नहीं जाता है।

एक महात्माकी सच्ची घटनाका उल्लेख यहाँ कर दें। चैतन्यमहाप्रभुके शिष्योंमें एक सज्जन थे। उनका नाम-जपका इतना अभ्यास था, उनकी जीभ इतनी अभ्यस्त हो गयी थी और उनको इतना आनन्द आता था कि सोनेमें भी उनका नाम-जप होता रहता था। जब नींदमें भी जप हो तब जाग्रत् अवस्थामें क्यों न हो? एक दिन वे जंगलमें शौचके लिये गये। उनका नाम-जप चल रहा था। एक सज्जन उनके पीछे हो लिये। जो दोष

देखनेवाले होते हैं, उनका काम ही यही होता है। ऐसा मैंने भी देखा है कि जब ध्यान करते हैं तब कई लोग कहते हैं कि अमुक-अमुक व्यक्ति सो रहा था, मैंने देखा है। मैंने पूछा कि आप क्या कर रहे थे? दूसरेके दोष बिना देखे और बिना जाने-समझे कहनेमें उन्हें आनन्द मिलता है। खैर, उस व्यक्तिने आकर महाप्रभुसे कहा—महाराज! वह आदमी इतना गन्दा है कि शौच करते हुए भी भगवान्‌का नाम लेता है। महाप्रभुने कहा—ऐसा करता है! उसने कहा—हाँ, ऐसा करता है। महाप्रभुने कहा—उसे बुलाओ। वे सज्जन आये, तब महाप्रभुने कहा—यह कह रहा है कि तुम शौच करते हुए भगवान्‌का नाम लेते हो। वे बोले—'हाँ, ऐसा करता हूँ।' महाप्रभुने कहा—ऐसा नहीं करना चाहिये। उन्होंने कहा—ठीक है। फिर दूसरे दिन जब वे महात्मा शौचको गये तब फिर वह गया और देखा कि वे शौच कर रहे हैं और जीभ पकड़े हुए बैठे हैं। उसने आकर फिर महाप्रभुसे कहा—महाराज! वह तो अत्यन्त भ्रष्ट है। कल तो केवल बोल ही रहा था, परंतु आज तो शौच करते हुए हाथ मुँहमें डाले हुए था। महाप्रभुने कहा—ऐसी बात है तब उसे बुलाओ। वह आया तो महाप्रभुने कहा कि ये कह रहे हैं कि तुम शौच करते हुए मुँहमें हाथ रखे थे। उन्होंने कहा—महाराज! ये ठीक कह रहे हैं। परंतु आपने ही कहा था कि शौच करते समय नाम मत लो, मेरी जीभ मानती ही नहीं तो मैं क्या करूँ? आपकी आज्ञा थी, इसलिये जीभ पकड़कर बैठ गया। महाप्रभुने कहा—अब तुम जाओ और हमेशा जप किया करो।

इस प्रकारका जप जिसके जीवनका स्वभाव बन जाता है, वह भजन है। अगर भजन न रहे तो जीवन न रहे। भगवान्‌की स्मृति ही जीवन है। भगवान्‌ने श्रीगोपाङ्गनाओंके लिये कहा—'**मत्प्राणाः**'। उनके अपने प्राण नहीं रहे, उनके अपने प्राण तो मेरे प्राणोंमें आ गये। अब वे मेरे प्राणोंसे अनुप्राणित हैं।

'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।'

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४)

भगवान्‌ने कहा कि गोपियोंका अपना मन रहा ही नहीं। उनका मन मेरे मनमें समाहित हो गया। ऐसी बात होती है। मन अमन हो जाता है। जबतक मन है तबतक जगत् है। फिर गोपियाँ सोचती कैसे हैं? भगवान्‌ने

कहा—मेरे मनसे। जीवित कैसे रहतीं? भगवान्ने कहा—मेरे प्राणोंसे। भगवान्के प्राणोंसे अनुप्राणित, भगवान्के जीवनसे जीवित एवं भगवान्के मनसे स्मरणयुक्त रहना, यहाँतक होता है। अन्यथा यह तो होता ही है कि याद नहीं रहा। किसी व्यक्तिकी कोई प्रिय वस्तु नष्ट हो गयी हो, उसे दु:ख हो रहा है तब समझानेपर वह कहता है कि मैं जानता हूँ कि याद नहीं करना चाहिये। इससे कोई लाभ नहीं है, परंतु क्या करूँ, मन मानता ही नहीं। मुझसे रहा नहीं जाता है। याद आ ही जाती है। इसी प्रकार भगवान्में जब चित्त इतना आसक्त हो जाता है तब भजन करना नहीं पड़ता है, भजन हो जाता है और ऐसा होता है कि छुड़ाये न छूटे। जो भगवान्के भक्त होते हैं, वे भगवान्के भजनमें होते हैं और भगवान् उनका भजन करते हैं।

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

(रा०च०मा० २। २१८। ७)

भरतजीके समान श्रीरामका प्रिय कौन है? सारा जगत् जपता है श्रीरामको और राम स्वयं जपते हैं भरतका नाम। महर्षि भारद्वाजने कहा—भरत! मैं क्या बताऊँ? मैं सारी रात देखता रहा कि राम सिर्फ तुम्हारा जप करते रहे। तुम्हारा स्मरण करते रहे। जब भरत और रामके प्रेमकी बात आयी तब जनकजीने कौन बड़ा और कौन छोटा बतानेमें असमर्थता व्यक्त कर दी।

धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥

(रा०च०मा० २। २८८। ४-५)

कैसी विलक्षण बात है। जनकजी कहते हैं कि कोई राजनीतिकी समस्या आ जाय तो मैं सुलझा सकता हूँ, किसीको ब्रह्मज्ञानकी आवश्यकता हो तो मैं उसे दे दूँ और कोई धर्म-ग्लानि प्रस्तुत हो जाय तो उसका समाधान मैं कर सकता हूँ, परंतु भरतकी महिमाका वर्णन मेरी बुद्धि क्या करे? वह उसकी छायाको भी नहीं स्पर्श कर सकती है। यह उनकी बात है जो रामके सिवाय किसीको नहीं जानते और राम उनके सिवाय किसीको नहीं जानते। उनके बीचमें मैं क्या बोलूँ।

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥

(रा०च०मा० २। २८९। ५)

भरत और रघुबरकी प्रीति तर्कमें नहीं आ सकती है। यह क्या चीज है? यह चीज है कि केवल जो भगवान्‌को चाहता है, भगवान् भी उसको उसी रूपमें चाहते हैं। जो भगवान्‌का हो जाता है, उसके लिये भगवान् भी उसी रूपमें हो जाते हैं। भगवान्‌को लज्जा, शर्म नहीं आती है। इसलिये छोटे बच्चे जब भगवान्‌को चाहते हैं, तब भगवान् छोटे बच्चे बनकर उनके साथ खेलने लगते हैं। यही तो अवतरण है। अवतार क्या है? अवतारका आनन्द यही है कि वे छोटे बनकर उतर आते हैं, हमलोगोंके लिये। हमलोगों-जैसा खेल खेलते हैं। उन्हें हमलोगोंकी भाँति भूख लगती है। यह दम्भ नहीं है, झूठ नहीं है। उनकी लीला है। भगवान् सचमुच प्रेमके वशमें होते हैं लीलासे—'**लीलया**'।

इसलिये एक ही चीज हो जाय कि हम भगवान्‌के हो जायँ, तब भगवान् हमारे हो जायँगे। अगर हम चाहें तो भगवान् बच्चे बनकर हमारी गोदमें खेलें और जब भगवान्‌के साथ ऐसा कुछ हो जाता है तब वे नयी-नयी लीला करते हैं। फिर बहुत आनन्द आता है। कोई अपनेको यशोदामाता मान ले तो उस माँकी गोदमें वे वैसा-वैसा ही करते हैं।

एक बार मैं अनूपशहर गया। वहाँपर एक रमणशंकरजी मेहता थे। उनकी एक बहन थी। उसने मुझसे पूछा कि भगवान्‌का ध्यान कब किया जाय? मैं उसके भावोंसे अनभिज्ञ था और अज्ञानतावश कह दिया कि ब्राह्ममुहूर्तमें ध्यान करना चाहिये। सूर्योदयसे पूर्व करनेमें अधिक लाभ होता है। वह बोली—'भाईजी! उस समय तो लालो सोये।' तब मुझे ध्यान आया कि इसका लाला तो उस समय सोता है। सचमुच, यह उस समय क्यों जगायेगी? यह तो तब जगायेगी जब जागनेकी बेला होगी। फिर मैंने उससे विस्तारसे पूछा, तब उसने बताया कि लाला जब जागता है, तो सबसे पहले मैं उसे प्यार करती हूँ। कभी-कभी तो वह बिना मुँह धोये ही कह देता है कि आज माखन खाऊँगा। बच्चा जो ठहरा। मैं उसे माखन खिला देती हूँ और वह मुँहमें माखन लगे-लगे खेलने बैठ जाता है। मैं उबटन और जल लिये बैठी रहती हूँ कि कब यह आवे तो इसे नहलायें। यह खेलने चला जाता है और मैं पीछे-पीछे देखने जाती हूँ। यह सब मनुष्य ही हैं, परंतु हमारी दृष्टि बाह्य जगत्‌में होनेसे हम केवल बाहर-बाहर ही देखते हैं। इन लोगोंको जो आनन्द है, वह उन्हें पता है। सूरदासजीका

उदाहरण देखिये, अन्धे थे लेकिन आनन्द-विभोर होकर लीलामें विचरण करते थे। बाललीलासे लेकर न जाने कहाँतक पहुँच गये और कहते हैं कि यह देखा—यह देखा।

यह भगवान्‌का स्वभाव है कि हम भगवान्‌को जब चाहें जिस रूपमें चाहें, तब भगवान् उसी रूपमें हमारे अपने बन जाते हैं—माँ बना लेते हैं, बेटा बना लेते हैं, पिता बना लेते हैं, मालिक बना लेते हैं, नौकर बना लेते हैं, पति बना लेते हैं, पत्नी बना लेते हैं। हाँ, ऐसा होता है। वे भक्तिमती सखूबाईके यहाँ सखूबाई बनकर बैठ गये और सखूबाईके पतिकी सेवा करने लगे। ऐसा इतिहास मिलता है। यह भगवान्‌के लिये कोई बड़ी बात नहीं है, परंतु इसमें हेतु केवल और केवल विश्वास है। यह साधनाकी चीज नहीं है—

यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोई कोई॥

भगवान् सबको नहीं मिलते, साधनासे नहीं मिलते। साधनामें मोल-तोल है। इतना साधन करें कि यह फल मिल जाय। साधना करनी चाहिये। इसका कोई विरोध नहीं है, खूब साधना करें, लेकिन हम किसी साधनाके बलपर भगवान्‌के प्रेमको या भगवान्‌को प्राप्त कर लेंगे—यह भाव अच्छा नहीं है। ऐसी कौन-सी साधना है, कौन-सा मूल्य है जिससे भगवान् मिल जायँगे? तीनों लोकोंकी सारी तपस्या इकट्ठी कर लें तब क्या उसके बदलेमें भगवान् मिल जायँगे? क्या भगवान्‌की कोई कीमत है? कोई कीमत नहीं है। भगवान् अमूल्य हैं और अमूल्य ही मिलते हैं। अमूल्यके दो अर्थ हैं—जिसके मूल्यका कोई ठिकाना नहीं है और जिसका कोई मूल्य ही नहीं। मूल्यसे भगवान् नहीं मिलते। वे इतने बहुमूल्य हैं कि उनका मूल्य कौन चुकावे। उनके मूल्यका कोई पता नहीं। उनके लिये मूल्य क्या है? एक ही मूल्य है—चाह।

भगवान्‌को प्राप्त करना हो तो भगवान्‌को प्राप्त करनेकी हृदयमें चाह पैदा करें। वह चाह आग बन जाय। यह आलङ्कारिक भाषा नहीं है, चीज ही ऐसी है। भगवान्‌की चाह, वह आग बन जाती है जो अन्य समस्त चाहों—इच्छाओंको जला देती है। यदि जलाती नहीं है तो भगवान्‌की चाह नहीं है। यह कसौटी है। जगत्‌से नाता तोड़ना नहीं पड़ता, स्वतः टूट जाता है। उनकी चाह अन्य किसी चाहको बर्दाश्त नहीं करती। यह दूसरी किसी **चाहको भगा देती है। तुलसीदासजीने कहा है—'माया खलु नर्तकी बिचारी'।**

उन्होंने कहा कि भक्तिके सामने माया रह नहीं सकती है। भक्ति पटरानी है और माया नर्तकी है। बेचारी माया तभीतक मोहती है, नचाती है जबतक भक्तिदेवी नहीं आती हैं। भगवान्‌की साक्षात् पटरानी भक्तिदेवी आ गयीं तब माया चली जाती है। सीधी बात ब्रह्माजीने कही—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०/१४/३६)

'हे कृष्ण! हे श्यामसुन्दर! जबतक तुम्हारे नहीं हो जाते, तबतक ही राग-द्वेषरूपी चोर पीछे लगे रहते हैं। तभीतक यह घर जेलखाना बना रहता है और मोहकी बेड़ियाँ पैरोंमें पड़ी रहती हैं। जब तुम्हारे हो गये तब राग-द्वेषरूपी चोर भाग जाते हैं। घरका जेलखाना टूट जाता है और पैरोंकी बेड़ियाँ कट जाती हैं।' जबतक भगवान् नहीं आते तभीतक ये चीजें हैं। यह कसौटी है। अगर हमारे मनमें भगवान्‌की चाह है तो वह चाह जगत्‌की चाहको खा जायगी। उसकी एक बार झाँकी आ जाय तब दूसरी झाँकी पसन्द आयेगी ही नहीं।

माइकल नामक एक ईसाई सज्जन थे। उन्होंने बँगलाभाषामें एक ग्रन्थ लिखा—व्रजाङ्गना। उसकी एक लाइनका हिन्दीमें अनुवाद है—

जिसने देखा कभी नयन भर, मोहन रूप बिना बाधा॥
वही जान सकता है क्योंकर कुल कलङ्किनी है राधा॥

भगवान् बुद्धने देखा, फिर क्या घरमें बद्ध रह सके? बुद्धने उस रूपको देखा, झाँकी आयी; फिर राजमहल, नवयुवती स्त्री और नन्हे शिशु सिद्धार्थकुमारको रातमें छोड़कर निकल गये।

दीदार दिलरुबाका दीवार कहकहा है।
देखा जो उस तरफ तो इस तरफ वो कहाँ है॥

एक बार जिसको दिलरुबाकी झाँकी हो गयी, वह इस तरफ कहाँ रह सकता है? रह ही नहीं सकता। अगर जगत्‌की चाह मनमें है तो भगवान्‌की चाह पैदा होगी ही नहीं। यह कसौटी है। भगवान् मिलें कैसे? हमने भजन चाहा ही कब? हमने भजन किया कब? हमने तो भोगोंका भजन किया। हमने भगवान्‌की चाहके साथ-साथ भोगोंकी चाह रखी। यह व्यभिचारी चाह है। यह तो भगवान्‌के नामपर किसी सुखकी चाह है, किसी

इन्द्रियविलासकी चाह है, किसी भोगकी चाह है, किसी कामनाकी चाह है, किसी स्वर्गकी चाह है, किसी सद्गतिकी चाह है। तुलसीदासजी कहते हैं—

चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥

(विनयपत्रिका १०३)

उन्होंने कहा कि 'न सद्गति चाहिये, न सम्पत्ति चाहिये, न ऋद्धि-सिद्धि और न ही विपुल बड़ाई चाहिये। हमें तो चाहिये दिनोंदिन बढ़नेवाला हेतुरहित भगवान् राघवेन्द्रके चरण-कमलोंका अनुराग।'

यह चाह जब रहेगी तब अन्य सभी चाह मिट जायगी। यह जितनी चाह है—ऋद्धि-सिद्धि, विपुल बड़ाई और भोगोंकी—इनकी बात ही क्या है, भागवतकार कहते हैं कि किसी भगवत्प्रेमीका संग क्षणमात्रके लिये मिल जाय फिर उसके सामने मुक्ति भी कोई वस्तु नहीं है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(श्रीमद्भा० ४/३०/३४)

हमारा मन तो भोगोंमें जाता है। भगवान्के सामने जाकर भी भोगलिप्सा हमारे मनमें रहती है कि भगवान् हमारे मनकी भोग-कामनाको पूर्ण कर दें। भगवान् कभी-कभी कर भी देते हैं। इसीलिये एक प्रसङ्ग जरा बेसमझीसे बुरा मालूम होता है—'**कुब्जा महाभागा**'। लेकिन कुब्जाको शुकदेवजीने 'दुर्भगे' कहा। महाभागा तो इसलिये कि भगवान्ने उसे अपनाया। जिसको भगवान्ने हृदयसे लगा लिया, उसमें पाप कहाँ रह गया, परंतु 'दुर्भगे' कहा। क्या उसने भगवान्से मिलकर भोग-वासनाकी पूर्ति चाही? 'दुर्भगे' शब्द गोपियोंके लिये नहीं आता है, कुब्जाके लिये आता है।

भगवान्के सामने जाकर हम किसी भोगकी लिप्साको सामने रखते हैं, मनमें छिपी हुई वासनाकी पूर्ति चाहते हैं। भगवान् चाहें तो कर दें, वह तो भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं। वे अपने अन्दर वह वासना पैदा कर लेते हैं, भक्तकी दी हुई वस्तुको ग्रहण करनेके लिये उन्हें भूख लगती है, प्यास लग जाती है। उन्हें डर लग जाता है। वह सब कुछ अपने-आप बन जाते हैं। भगवान् भक्तके लिये लोभ, भोग, भय, प्यास, क्रोध आदि सब बन जाते हैं, लेकिन यह ठीक नहीं है भक्तके लिये। जो भगवान्को चाहता

है, जो अपनेको सेवक कहता है, जो प्रेम चाहता है, उसके लिये तो एक ही चीज है कि भगवान्‌के सिवाय अन्य कुछ न चाहे।

'जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।'

(रा०च०मा० २/१३१)

जब किसी दूसरी वस्तुकी चाह मनमें नहीं होती है तब भगवान् क्या करते हैं? फिर भगवान् अपने-आपको उसका बनाकर भी अपनेको नहीं मानते। यह बड़ी विलक्षण बात है। अपने-आपको उसका बनाकर उसके हाथोंमें सौंप देते हैं, फिर वह चाहे जैसा बरते। चाहे जैसा बरताव करनेपर भी कहते हैं कि मैं तुम्हारा ऋण नहीं उतार सकता, देवताओंकी आयुमें भी। तुम भले ही मुझसे मुक्त हो जाओ, परंतु मैं कभी मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि तुमने मेरा सब कुछ ले लिया। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ, तुम्हारा ऋण नहीं उतार सकता। अपने-आपको देकर भी भगवान् ऐसा कहते हैं। यह उनका शील-स्वभाव है।

अतएव भगवान्‌की प्राप्तिमें, भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्तिमें, भगवान्‌के भजनकी प्राप्तिमें जो कुछ विलम्ब है, वह हमारी चाहका विलम्ब है। हमारे मनमें जिस दिन, जिस क्षण भगवान्‌को प्राप्त करनेकी उत्कट चाह पैदा हो जायगी, उस समय हम भगवान्‌के बिना नहीं रह सकेंगे और भगवान् भी उस समय हमारे बिना नहीं रह सकेंगे।

******

चेतावनी एवं सकाम भक्ति

कहते हैं कि श्रीगोविन्दके चरणारविन्दका जो मधु है, उसमें कुछ अद्भुत गुण हैं। मधुको पीकर—मधुका पान करके उसका नशा आता है और नशेमें मनुष्य मोहित होता है, किंतु यह मधु कुछ ऐसा विचित्र होता है कि जो इसे पीते हैं वे तो मोहित नहीं होते और जो नहीं पीते हैं वे मोहित हो जाते हैं—**'यत् पायिनो न मुह्यन्ति मुह्यन्ति यदपायिनः'** इस श्रीगोविन्दपदाम्भोजरूपी मधुका—श्रीगोविन्दचरणकमल-मकरन्दका जो पान करे उसका मोह मिट जाता है। लोग पूछते हैं कि भई, मोह मिटनेकी दवा

क्या है? दवा है—चरणकमलमकरन्दका पान। श्रीभगवान्‌के चरणकमलमकरन्दका पान करते रहो, मोह नहीं रहेगा। इसके लिये अपने मनको भ्रमर बना दो। अपना मन नित्य भ्रमर बन जाय और उस रसमें इतना आसक्त हो जाय कि मरना भी भूल जाय। समझ लो कि अपनेको इसी कमलमें रहना है। इसीके रसका पान करना है। १ [illegible] हो हाथी आये और वह मीज डाले कमलको, कोई परवा नहीं।

मनुष्यको हमेशा यह मानना चाहिये कि समय नहीं है, न मालूम अगला क्षण मृत्युका हो। इसलिये और सब बातोंमें विलम्ब कर जाय और कोई काम न हो संसारका तो हर्ज नहीं है। असलमें काम तो रहेंगे ही। जगत्‌का पूरा काम करके मरना सहज नहीं है। जगत्‌के काम तो अधूरे रहेंगे ही। इन्हें तो अधूरे ही छोड़कर जाना पड़ेगा। इसलिये ये अधूरे रह जायँ तो कोई नुकसान नहीं, पर यदि यह काम अधूरा रह गया तो बहुत बड़ा नुकसान है। इस हानिकी पूर्ति सहज नहीं होती। क्यों नहीं होती कि प्रथम तो मानव-जन्म कब मिले—यह पता नहीं और कहीं मानव-जन्म मिल भी जाय और कहीं ऐसे स्थानमें मिले जहाँ इस प्रकारका कोई प्रसंग ही न हो तो वह मानव-जन्म भी व्यर्थ ही है। उदाहरणके लिये मान लीजिये छोटा-सा एक टापू है। उस टापूमें मनुष्य रहते हैं। वहाँ मछलियाँ होती हैं बड़ी-बड़ी। ये लोग इन्हींको मारकर खाते हैं। इन्हींकी खालके कपड़े पहनते हैं और इन्हींकी आँतोंके घर बनाते हैं। अब, उनके लिये मानवता क्या है, यह उन्हें पता ही नहीं।

आगे कभी हम मनुष्य भी हो गये और उस टापूमें जाकर जनमे तो क्या होगा? सौभाग्यकी बात कि हमारा भारतवर्षमें जन्म हुआ और उसमें फिर इस प्रकारका संयोग। गीता, रामायण, उपनिषद्—ये हमारे सद्ग्रन्थ सामने हैं। इतनेपर भी इस समयको यदि हमलोगोंने खो दिया तो यह महती विनष्टि है। यह बहुत बड़ी हानि है, इस हानिकी पूर्ति कभी होती नहीं। इसीलिये जीवनमें सबसे पहला काम करनेका यही है। इस कामके रहते हुए और काम करें। इस काममें सहायक बनाकर और काम करें तब तो हर्ज नहीं है। यदि इसको छोड़कर और काम करें, इससे अपने मनको हटाकर और काम करें यह बहुत बड़ी हानि है। इसलिये होना यह चाहिये कि हमारा मन इस काममें लगना चाहिये।

संक्षेपमें दो तरहके मन होते हैं। पहला है ऊपरी मन तथा दूसरा है भीतरी मन। यह भजन जो होता है यह ऊपरके मनसे और जगत्‌का चिन्तन और काम जो होता है वह अंदरके मनसे। जगत्‌के काममें तो मनका सच्चा भाव है। इसलिये उसके होने-न-होनेमें सुख-दुःख होता है। उदाहरणके रूपमें—मान लिया कि आप व्यापार करते हैं और आपके व्यापारमें घाटा हो जाय और दूसरी ओर आप माला फेरते हैं और माला न फेरी जाय। माला न फेरनेमें आपको कितना पश्चात्ताप होगा और घाटेमें कितना होगा। अपने मनसे सोचिये। माला तो न फिरी न सही, कल फेर लेंगे, परसों फेर लेंगे और माला न फिरी तो भी क्या आपत्तिकी बात। न फिरी न सही। इसमें कौन-सा घाटा हो गया? हमारे घरसे क्या चला गया? पर यदि हमने अपनी भूलसे, गफलतसे सौ रुपया खो दिया या सौ रुपयेकी कमाईकी सम्भावना की थी, आया नहीं। हमारा बड़ा घाटा हो गया तो दुःख होता है। जिसके न होनेसे, जिसके न होनेकी सम्भावनासे दुःख हो, जिसके होनेपर या होनेकी सम्भावनामें सुख हो—उसमें तो है हमारी अंदरकी बुद्धि, भीतरका मन लगा है और जिसमें 'छूट जाय, छूट जाय; न सही' का भाव बना रहता है, उसमें बाहरका मन लगा है। एक बड़ी सुन्दर, बड़ी बढ़िया बात याद रखनेकी यह है कि भई, नियमकी माला फेर ली, संध्या कर ली, गायत्रीकी एक माला फेर ली, गीताजीके एक अध्यायका पाठ कर लिया, राम-नामके नियमकी माला फेर ली। अब आजका काम समाप्त हो गया, अब बाहर आकर बैठ जाओ। बाहर काम नहीं है, गप्प लड़ाते हैं, व्यर्थकी बात करते हैं, ताश खेलते हैं, सोते हैं, पर कोई कहे कि माला क्यों नहीं फेरते हो तो कहेंगे कि मालाका काम आज हो गया। नित्यकर्म था न, पूरा हो गया। दूकानपर जाकर बैठते हैं। एक ग्राहक आ गया, बीस कमा लिया, सौ कमा लिया, पाँच सौ कमा लिया, फिर दूकान बंद करते हैं क्या? कभी मनमें यह भी आता है कि आजका काम हो गया, अब कल कमायेंगे? इसका अर्थ क्या हुआ? यह तो आवश्यक है, यह है बहुत प्रिय और यह ऐसा काम है जिससे मन कभी उकताता ही नहीं। यह मानता ही नहीं कि काम पूरा हो गया, पर वहाँ तो किसी तरह पूरा करना है। इसी तरहसे—कितने बज गये भई घड़ीमें? माला तो अभी बहुत बाकी है, माला पूरी करनी है, जल्दीसे पूरी हो जाय तो

बाहर चलें, बैठें। एक बन्धनमें थे, आफत थी। किसी तरह टल जाय तो आरामसे बैठें। कभी घड़ी देखते हैं तो कभी आसन बदलते हैं, कभी मालाकी ओर देखते हैं, कभी उबासी आती है और जहाँ समाप्त हुआ तो पिण्ड छूटा और आरामसे आकर बैठ गये।

इससे यह सिद्ध होता है कि कौन-से काममें हमारी रुचि है और कौन-सा काम बेरुचिका है। कौन-सा काम हमारे मनसे आवश्यक है और कौन-सा काम हमारे मनसे अनावश्यक है। कौन-सा काम बिना बिना किये हमारा काम नहीं चलता और कौन-सा काम किये बिना काम चल जाता है। बोले, भई! आज दूकानसे जल्दी आना है, घर बहुत जरूरी काम है। बोले—आज माला तो नहीं फेरी। माला कौन-सी बहुत जरूरी है, कल फेर लेंगे। और न फिरी एक दिन तो क्या बिगड़ गया उससे—ऐसा अपना मन कहता है, घरवाले कहते हैं—यह बड़ा माला लेकर बैठा है दूकानमें तो हर्ज हो रहा है और यह माला लेकर बैठा है। अपना मन भी कहता है कि क्या माला लिये बैठा है—दूकान चल, घरका काम कर, उसके बिना काम कैसे चलेगा? परंतु राम-नामके बिना काम कैसे चलेगा—यह कोई नहीं कहता। इसीलिये कहना है कि भजन जो होता है यह ऊपरके मनसे होता है।

इसी प्रकार कुछ लोगोंका भजन जो होता है वह संसारके बन्धनको रखते हुए और बन्धनको मजबूत बनानेके लिये होता है। बहुत-से लोग इसीलिये भजन करते हैं, भगवान्‌का नाम लेते हैं, गीतापाठ करते हैं, नाम जपते हैं, गङ्गा नहाते हैं, सत्संगमें जाते हैं—क्या भगवान् इतनी नहीं सुनेंगे हमारी? एक लड़का हमारे और हो जाय और वह बड़ा स्वस्थ रहे, इतना धन हमारे और हो जाय, जो विपत्ति है वह टल जाय। यह क्या है? इसका अर्थ है कि हमारा बन्धन और मजबूत हो जाय। दो-चार गाँठें और लग जायँ। खुलती भी हों कहीं तो न खुलें। इसी प्रार्थनाको लेकर भजन करते हैं, रस्सी बिना खोले नाव चलाते हैं। नावका डाँड़ रातभर खेया, हाथ भी दुखने लगे, पर रस्सी खोली नहीं तो रहे जहाँके तहाँ। नाव एक इंच भी आगे नहीं हटी। इसका यही मतलब है कि संसारके बन्धनको लिये हुए, उसको पकड़े हुए और यह प्रार्थना करते हुए कि यह न छूटे महाराज, यह बना रहे हमारा और आप मिल जाओ तो बड़ी अच्छी बात। भजन आपका करते ही हैं, आप हमारा यह काम तो कर दिया करो।

भजते हैं भगवान्‌को इसीलिये कि हमारा यह जो काम है यह आपके जिम्मे है। हम आपका भजन करते हैं तो आप इतना भी काम नहीं करेंगे? अक्सर यह सुननेमें आता है कि मैंने भगवान्‌को इतना भजा, इतनी प्रार्थना की और भगवान्‌ने इतना काम भी नहीं किया। कुछ हो गया किसीके घरमें जैसे मृत्यु हो गयी या धन चला गया या नहीं आया या परीक्षामें पास नहीं हुए तो इतना काम भी भगवान्‌ने नहीं किया। भगवान् तो काम करनेवाले बिना पैसे-टकेके नौकर हैं! फुरसतके समय जब हम निकम्मे हों, उस समय दो-चार भगवान्‌का नाम ले लें और बीस काम उनको बता दें। उसपर भी ऐसा नाम नहीं लेते उनका कि उस काममें हर्ज करके लेते हों—जब निकम्मे हों; जब कोई काम न हो; तब दो-चार नाम उनका ले लें। बड़ा भारी काम, सारा-का-सारा घरका काम और लोकका भार और इज्जतका भार—हे राम! यह इज्जत सारी-की-सारी तुम्हारे हाथ है। क्यों हमारे हाथ है? इसलिये कि हमने तुम्हारा नाम लिया है। यह जो भगवान्‌की सेवा है, भगवान्‌का भजन है, यह भगवान्‌का भजन नहीं है। यह भजन है भोगोंका, यह भजन है विषयोंका और इसमें भी एक बात यह है कि भोगोंके लिये यदि भगवान्‌की पुकार हो तो वह भी अच्छी है, पर उसमें होनी चाहिये अनन्य निष्ठा। वह तो है ही नहीं। बोले, महाराज! अबकी हमने अमुक व्यापारमें अमुक-अमुक चोरियाँ की हैं और अमुक चोरीके कामके द्वारा इतना रुपया हमारे पास आनेवाला है। हमारी वह चोरी सफल हो जाय। उस चोरीका हमारा काम न पकड़ा जाय और वैसी चोरियाँ और करनेकी सुविधा मिलती रहे, हे भगवान्! मेरा यह काम आप कर दिया करें। यह सत्य बातें हैं, ऐसी प्रार्थनाएँ बहुत होती हैं। भगवान्‌पर तो निष्ठा है ही नहीं। निष्ठा पुण्यपर भी नहीं, पवित्र कामपर भी नहीं, धर्मपर भी नहीं तो हमारी निष्ठा है कहाँ? निष्ठा है चोरीपर, पापपर तथा बेईमानीपर। बेईमानीकी निष्ठा पूर्ण होनेके लिये भगवान्‌का भजन, भगवान्‌से प्रार्थना, सो भी ऊपरके मनसे और विश्वासपूर्वक नहीं। यह भजन नहीं, यह ऊपरके मनका भजन है। सकाम भजन था ध्रुवजीका, सकाम भजन था द्रौपदी मैयाका। कितना विलक्षण!

अश्वमेधकी तैयारी हो रही है। रातका तीसरा प्रहर है। युधिष्ठिर महाराज बैठे हैं और सब लोग बैठे हैं। बात तय हो गयी कि अश्वमेध

करना है। युधिष्ठिर महाराज बोले—क्या बतावें श्रीकृष्ण तो यहाँ हैं ही नहीं। उनके बिना सलाह किससे लें? काम कैसे करें? बात कैसे हो? बस, द्रौपदी बोली कि यह आपने कैसे कहा कि वे नहीं हैं यहाँपर? अभी आते हैं, यहींपर हैं। द्रौपदीने कहा—श्रीकृष्ण! बोले हाँ! मानो खड़े थे वहींपर। यह है विश्वास। प्रत्येक कार्यमें भगवान्‌पर ऐसा विश्वास रखना चाहिये।

एक दिनकी बात है कि महामुनि दुर्वासा दुर्योधनके यहाँ गये। सत्कार-स्वागत हुआ। दुर्योधनने मनमें समझा कि ये हैं बड़े क्रोधी पर बड़े सीधे हैं, सरल हैं, बहुत भोले हैं और जो मुँहसे कह दें वह करना पड़ता है ब्रह्माको भी। यह इनकी ताकत है तो ऐसा उपाय करें कि पाण्डव इनके शापके भागी बन जायँ। जिसका हृदय दुष्ट होता है उसके हृदयमें इसी प्रकारकी योजनाएँ आती हैं। दुष्ट व्यक्ति योजना बनाता है पर बनाता है अनिष्टकी—अपनी भी और जगत्‌की भी। उसके द्वारा सुयोजना नहीं होती। दुर्योधनने सोचा कि ये आ ही गये हैं और ऐसा कोई प्रयत्न करें कि इनके द्वारा अभिशप्त होकर—शाप पाकर पाण्डव मारे जायँ तो न अपनेको लड़ना पड़े और अपना निष्कण्टक राज्य भी हो जाय। आज ये आ गये हैं, काम बन गया। दुर्वासाजी भोजन करके जब आसनपर बैठे तब दुर्योधनने हाथ-पैर दाबे, वे प्रसन्न हो गये। दुर्योधनने कहा—महाराजजी! एक हमारी प्रार्थना भी है। बोले—क्या? उसने कहा—हमारे पाँच भाई हैं वे वनमें रहते हैं और बड़े धर्मात्मा हैं। महाराज! इतने बड़े धार्मिक हैं कि जगत्‌में कोई है नहीं। आप एक बार जाकर उनकी कुटियाको भी पवित्र करें। बोले—हाँ, जायँगे। कहा—एक प्रार्थना और है महाराज! सबेरे जायँगे तो उनके अग्निहोत्रमें तथा उनके अन्य कामोंमें बाधा पड़ेगी। आप शामको जाइयेगा। उन्होंने कहा—ठीक है शामको ही जायँगे। सरल हृदयके दुर्वासाजीने कह दिया जायँगे। उनके साथ चलता-फिरता विश्वविद्यालय था। पहले हमारे यहाँ गुरुकुल होते थे। चल गुरुकुल तथा अचल गुरुकुल। गुरुजीके साथ विशाल शिष्यसमूह चलता था। इसलिये वह चल गुरुकुल कहलाता था। अचल गुरुकुल भी थे जैसे सान्दीपनि-आश्रम। दुर्वासाजीके साथ थे दस हजार विद्यार्थी। दुर्वासाजी शिष्योंके साथ युधिष्ठिर महाराजके पास अपराह्णकालमें पहुँचे। महाराज! आइये, स्वागत है। पैर धोये, अर्घ्य दिया और आचमन कराया। महाराज, भोजन? दुर्वासाजी बोले—अच्छा, हम नदीतटसे संध्या

करके आते हैं, शाम हो गयी है। तब आकर जीमेंगे। वे तो चले गये। इन्होंने पीछेसे द्रौपदीको बुलाया। बोले—द्रौपदी क्या होगा? द्रौपदी बोली—महाराज! मैं तो भोजन कर चुकी। उसे सूर्य भगवान्‌का वरदान था कि जबतक पात्रका भोजन द्रौपदी नहीं खायेगी तबतक उसमेंसे भले लाखों आदमी आकर खा लें पात्र रहेगा अक्षय, किंतु जब द्रौपदी खा लेगी तो उस दिन पात्रमेंसे और भोजन-सामग्री नहीं मिलेगी। द्रौपदी क्या करती कि सभीको भोजन करानेके बाद अतिथियोंकी, अभ्यागतोंकी तबतक बाट देखा करती, अपराह्नकालमें बाहर खड़ी पुकारती कि कोई भूखा हो, किसीको अन्न चाहिये, वह आ जाय। जब दूर-दूरके लोग आ जाते, भोजन कर लेते, तब द्रौपदी भोजन करती। रोज वहाँ भण्डारा होता, एक दिन नहीं। दूर-दूरके लोग आते कि भई, वहाँ मिलेगा ही और मिलता ही था। किंतु आज तो द्रौपदी भोजन कर चुकी थी। बोली—महाराज! मैं तो भोजन कर चुकी। अब कोई सामान तो वहाँ है नहीं। धर्मराजने कहा—अब क्या होगा? द्रौपदी बोली—अब क्या होगा, डरते क्यों हैं आप। मेरे श्रीकृष्ण कहाँ गये हैं। धर्मराज बोले—वह तो गये न द्वारका! बोली—द्वारका नहीं गये। याद किया—श्रीकृष्ण! बचाओ। बस, तैयार। मानो खड़े थे वहींपर और आकर बोले—कृष्णा! मुझे बड़ी भूख लगी है, कुछ खानेको हो तो दो। द्रौपदी बोली, भगवन्! खानेको तो नहीं है। इसीलिये आपका स्मरण किया है। आज भोजनको लेकर ही बड़ा संकट आ गया है। भगवान् बोले कि देखो भई, विनोदका अवसर होता है, मैं तो भूखा खड़ा हूँ और तुम मुझसे विनोद करती हो। वह बोली—महाराज! विनोद नहीं, सचमुच खानेको नहीं है। वे बोले—ला, अपनी बटलोई तो ला। द्रौपदी बटलोई ले आयी। भगवान्‌ने देखा एक पत्ता सागका, तुलसीका या किसी चीजका उसमें लगा था। भगवान्‌ने पत्ता उठाया और कहा—तू कहती है कि नहीं है। यह तो सारे विश्वको तृप्त करनेके लिये पर्याप्त है; क्योंकि इससे तृप्त होंगे विश्वात्मा। सारे विश्वके आत्मा तृप्त हो जायँ—विश्वात्मा, फिर क्या।

'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।' (गीता १०।२०)

सारे भूतोंके अंदर स्थित होकर यह कौन भोजन करता है। रोज जो हम खाते हैं यह कौन खाता है। जो सबके अंदर रहकर खानेवाला है वह जो संकल्प कर ले कि मैं खाऊँ और सबका पेट भर जाय तो

उसका भरा तो सबका भर गया। भगवान्ने पत्ता खाया और खाकर कह दिया कि सारा विश्व तृप्त हो जाय। कहनेकी देर थी सारा विश्व संतृप्त हो गया। उधर दस हजार विद्यार्थियोंसहित दुर्वासामुनि नदीमें सूर्योपस्थान कर रहे थे और आने लगी डकार-पर-डकार। पेट फूल गये। सब एक-दूसरेको आपसमें देखने लगे। दुर्वासाजीने कहा कि अब भागो यहाँसे। हमें तो राजर्षि अम्बरीषवाली बात याद आ रही है। डर लगने लगा। ये पाण्डव भी भक्त हैं और अम्बरीष भी भक्त था। तब तो बड़ी मुश्किलसे उस अम्बरीषके द्वारा मेरे प्राण बचे नहीं तो चक्र तो मार ही डालता। बचाया भी अम्बरीषने ही। यहाँ भी भक्त ही हैं और शायद इनकी रक्षामें वह चक्र होगा, बड़ी मुश्किल होगी। चलो दूसरे रास्तेसे। उधर भगवान्ने भीमसेन और सहदेवसे कहा—जाओ! शिष्योंसहित दुर्वासाजीको बुलाकर ले आओ। ये जबतक नदीपर पहुँचे तबतक तो वे गायब हो चुके थे। भीलोंने बताया कि महाराज! वे तो एक-दूसरे रास्तेसे भाग गये। हमने देखा कि सब भाग रहे थे। यह है सकाम भक्तिमें भगवान्पर एकान्त विश्वास। **सकाम भक्ति हो और निष्ठा यदि अनन्य हो तो वह अनन्य निष्ठा सकामताको नष्ट कर देती है और प्रेम दे देती है।** इसीलिये भगवान्ने गीताके सातवें अध्यायमें यह घोषणा की। पहले कहा सुकृति, फिर कहा उदार, फिर कहा भक्त और अन्तमें यह प्रतिज्ञा करके घोषणा कर दी—'**मद्भक्ता यान्ति मामपि**' (गीता ७।२३)। मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होंगे, चाहे वे सकाम भावसे भजते हों, परंतु शर्त एक ही है कि सकामभाव भी उनका होना चाहिये अनन्य और अव्यभिचारी, जैसे पतिव्रता स्त्रीका होता है। यद्यपि पतिका सुख चाहनेवालीकी अपेक्षा वह नीची है जो गहने-कपड़े चाहती है पर अगर वह चाहती केवल पतिसे ही है, जानती केवल पतिको ही है, माँगती केवल पतिसे ही है तो वह व्यभिचारिणी नहीं है, वह है सती ही, पर चूँकि उसे अपने अङ्गको सुशोभित देखकर सुखकी आशा है इतने अंशमें वह नीची है। इसी प्रकार उस ज्ञानी भक्तकी अपेक्षा अर्थार्थी, आर्त इत्यादि जो भक्त हैं ये उससे नीचे हैं पर अभक्त नहीं हैं, दोषी नहीं हैं, पापी नहीं हैं। इनका सकामभाव अनन्यतासे भगवान्में लगा है। यह विशेषता है व्यभिचारिणी स्त्रीकी अपेक्षा अव्यभिचारिणी स्त्रीमें। व्यभिचारिणी स्त्री भी परपुरुषसे गहना लेती है, कपड़ा लेती है और पतिव्रता भी लेती है पर

पतिव्रताका जो भाव है वह केवल अपने पतिके प्रति अनन्य भाव है।

सकामभाव निष्कामभावकी तुलनामें नीची चीज है; क्योंकि कामनावाला आदमी गिर सकता है, उसमें गिरनेकी गुञ्जाइश है। यह गुञ्जाइश वहाँ नहीं होगी, जहाँ अनन्य प्रेम है, अनन्य भाव है, निष्काम भाव है।

एक बात और है, वह यह कि जिसे किसी सांसारिक विषयकी विशेष आवश्यकता हो, जिसका मन संसारके विषयको परम साध्य मानता हो, उसका साधन बदलते देर नहीं लगती है। जैसे कोई कहता है—हमारा यह काम भगवान् पूरा करें। बड़ा जरूरी काम है, होना ही चाहिये। जब भगवान्‌ने पूरा न किया तो बोले अब भगवतीकी आराधना करें। उसको तो मतलब कामसे है, न भगवान्‌से है न भगवतीसे। भगवतीसे उपाय नहीं चला तो बोले, अब जरा अमुक प्रेतकी उपासना करनी है। प्रेतोपासनासे काम हो जायगा। प्रेतकी ही सही। काम तो पूरा करना है। किसीने कहा यह सब; क्यों झगड़ेमें पड़े हो? व्यापार करो। यह सब कौन देने आता है? कौन भगवान्, कौन भगवती? इसमें कमाई-ही-कमाई है। उसमें भी नहीं हुआ तो फिर सुझाव मिला देखो—भाई, आजकल इससे काम नहीं होता। आजकल तो काम होता है चतुराईसे यानी चोरीसे। चतुराईका अर्थ है—चोरी। अमुक जगह माल पड़ा है और हमने बाबूसे बात कर ली है। वहाँसे गाँठ उठाकर ले आओ। अपनी ट्रक भेज दो। आधा उनको दे दो, आधा अपना रहा। कुछ हमारा भी हिस्सा तुम्हारे अंदर रहा। आजका आज आ जायेगा, कलपर बात नहीं। बात जँच गयी, अपनेको तो कमाना है न! चाहे वह चोरीसे आये, चाहे व्यापारसे आये, चाहे देवतासे आये, चाहे भगवतीसे आये और चाहे भगवान्‌से आये। जहाँपर विषयकामना सुदृढ़ होती है, प्रबल होती है। वहाँ भगवान्‌के स्थानपर पाप आनेमें देर नहीं लगती। सकाम भावमें यह बड़ी भारी गिरनेकी गुंजाइश है। इसलिये कहा है सकाम भावसे डरो। सकाम भावको निकालो। परंतु यदि कोई भक्त ध्रुव-सरीखा, द्रौपदी-सरीखा या गजराज-सा आर्त हो जाय, दुःखी हो जाय तो भगवान् उसकी कामना भी पूर्ण कर देते हैं और उसे अपना भक्त भी बना लेते हैं। किसी प्रकारके अर्थकी आकाङ्क्षा किसी कारणसे उत्पन्न हो जाय और एकान्तनिष्ठाके साथ अनन्य भावसे भगवान्‌को परम उपाय **मानकर भगवान्‌के शरणापन्न हो जाय तो भगवान् दोनों काम करते हैं। उसकी**

मनोकामना भी पूर्ण करते हैं और फिर कामनाका नाश करके उसे अपना भक्त भी बना लेते हैं। यह भगवान्‌के भजनकी विशेषता है। एक विशेषता गीतामें और बतायी गयी है कि भगवान् सुहृद् हैं, भगवान्‌के सिवाय कोई भी सुहृद् नहीं है, व्यापारी हैं सब-के-सब। आप किसी सुहृद्‌से जो आपका भला चाहता हो और जानकार भी हो, बुरी चीज माँगोगे तो वह नहीं देगा। सुहृद् है न वह! आपका हित चाहता है। जिस वस्तुसे आपका अहित होता होगा, वह उसे नहीं देगा। जैसे—एक तो आपका बड़ा हितैषी सद्वैद्य अच्छा डॉक्टर है और एक है दवा बेचनेवाला। दवा बेचनेवालेके पास आप जहरका नुसखा ले जाइये, वह पूरा दाम मिलनेपर जहर आपको दे देगा। उसको खाकर आप चाहे मरें चाहे जियें, किंतु सद्वैद्यके पास आप जायँ और उससे कहें कि इन दवाओंमेंसे यह लाल दवा बड़ी अच्छी है, यह दे दीजिये तो वह कहेगा कि तुम्हारे रोग क्या है? पहले बताओ। तुम्हारा रोग हम देखेंगे तब निदान करेंगे। जो दवा तुमको चाहिये वही देंगे। इसी प्रकार भगवान् जो हैं वे मनोकामना पूर्ण कर ही देते हैं, सो बात नहीं। कभी-कभी ऐसा भी करते हैं, ऐसा थप्पड़ लगाते हैं कि वह बेचैन हो जाता है। माँगनेवाला और भी खीझ उठता है, परंतु उसमें भी उसका हित ही छिपा होता है। औरोंकी बात छोड़ दीजिये—एक बार देवर्षि नारदजीमें जरा-सा अहंकार आ गया। वे तप कर रहे थे, अप्सराएँ आयीं, उन्हें देखकर उनके मनमें विकार नहीं हुआ तो सोचने लगे कि हमने तो कामपर विजय प्राप्त कर ली। वे शंकरजीके पास गये, ब्रह्माजीके पास गये और बोले—'देखा न महाराजजी, हमने ऐसा कर लिया आपके प्रतापसे।' शिवजीने समझाया कि यह सब तो ठीक है भैया, तुम ऐसे ही हो। पर हमारा स्वभाव तो भोला है। जो कहो हमारे मनमें तो कोई बात है नहीं, पर वे जो हैं वैकुण्ठनाथ, उनका एक नाम है भक्तगर्वभंजन—वे भक्तमें गर्वका रोग नहीं रहने देते। किसीमें भी नहीं रहने देते; पर भक्तके लिये विशेष चिन्तित रहते हैं। वहाँ जाकर यह सब कहना मत, नहीं तो आफत आ जायगी। अब इनके मनमें तो था गर्व, सोचा कि क्या हर्ज है, वहाँ अगर जायँ तो वे कुछ भी करें अपने तो फँसानेवाले हैं नहीं। गये वैकुण्ठमें और सीधे अंदर पहुँचे अन्तःपुरमें। भगवान् समझ गये। क्या कोई नई बात हुई नारदजी? नई बात क्या हुई, तप कर रहा था। इस प्रकार इन्द्रने उपद्रव

रचा और ऐसी-ऐसी अप्सराएँ आयीं। आपकी दयासे मेरे मनमें कोई विकार नहीं हुआ। भगवान्ने कहा—ठीक, आप बड़े अच्छे हैं, आप ऐसे ही हैं। पर ऐसा नहीं कहना चाहिये। बोले—महाराज! मैंने सही बात कही है। नहीं कहना चाहिये क्या है? भगवान् बोले—ठीक है।

भगवान्की मायासे एक नगर रचा गया। नगरमें स्वयंवर हुआ। भगवान् ही सब बन गये। नगर भी भगवान् बने, स्वयंवर भी भगवान् बने और राजकुमारी भी भगवान् बने। अब नारदजीके मनमें आया कि राजकुमारीसे मेरा विवाह हो जाय। कामना उत्पन्न हो गयी। भगवान्से कहा कि महाराज! मेरा हित कीजिये आप। मनमें था कि मुझे ऐसा स्वरूप दीजिये कि राजकुमारी मुझे वरण करे ही। भगवान्ने उनकी बात पकड़ ली। उनको दे दिया बन्दरका मुँह। बन्दरका मुँह लिये जाकर दरबारमें बैठ गये। अब बन्दरके मुँहकी ओर कौन देखे? राजकुमारीने तो इनकी ओर ताका भी नहीं। ये मन-ही-मन कुढ़े। शिवजीके दो गण पास ही बैठे थे। उनको हँसी आ गयी, इसपर नारदजीको गुस्सा आ गया। तुम हमारा मजाक करते हो, उनको शाप दे दिया। जहाँ काम होता है, वहाँ क्रोध आता ही है। नारदजीको भला क्यों क्रोध न आता? राजकुमारीने इनको वरा नहीं और भगवान्के गलेमें माला डाल दी। भगवान् उसे लेकर चले गये तो गणोंने नारदजीसे कहा—हमें तो शाप दे दिया, पर भले आदमी जाकर अपना मुँह तो देखो। मुँह देखा तो बन्दरका। बड़ा गुस्सा आया भगवान्पर—'**कामात्क्रोधोऽभिजायते**' (गीता २। ६२)। गये ढूँढ़ने पीछे-पीछे और भक्तगर्वभंजन भगवान् राजकुमारीके साथ रास्तेमें ही मिल गये। ये गुस्सेमें भरे हुए थे, बोले—तुमसे बड़ा तो कोई दूसरा है नहीं, यथेच्छाचारी—जो मनमें आता है वह करते हो, कोई ऊपर शासन करनेवाला तो है नहीं। तुम सबके शासक, हमारे साथ मजाक करते हो। देखो, हमारे हृदयमें कितनी आग लग रही है। जैसे मैं आज स्त्रीके वियोगमें रोता हूँ, तुम भी ऐसे ही रोओगे। भगवान् '**तथास्तु**' कहकर हँसने लगे। अब माया उतरी। माया उतरी कि देवर्षि चरणोंमें गिर पड़े। बोले—महाराज! बड़ा अपराध हो गया। बोले—अपराध नहीं, यह तो मेरी इच्छा ही थी।

भगवान् मनमानी चीज देते भी नहीं। कभी-कभी तो उलटा हर लिया करते हैं। पूछा कि भई, शिवजी महाराज तो प्रसन्न होकर दे देते

हैं और आप देते नहीं। क्या बात है इसमें। भगवान् बोले कि भई, हमारा स्वभाव कुछ दूसरा है। उनका दूसरा है। कैसे दूसरा है? बोले—देखो, शिवजी महाराज तो हैं भोलानाथ। मनमें जो आया सो किया। ये अपना भी नहीं देखते कि हमारा क्या होगा। भस्मासुरसे कह दिया कि जिसके सिरपर हाथ रखोगे वह भस्म हो जायगा। बोला वह—पहले आपहीको देखना है कि आप भस्म होते हैं कि नहीं। अब शिवजी आगे-आगे भागे और यह पीछे-पीछे। फिर भगवान् वहाँ बचानेके लिये मोहिनी बने। मोहिनी अवतारसे शिवजीको दर्शन दिया और भस्मासुरसे कहा कि पागल हुआ क्या! यह बौराहा है, पागल है, इसकी बात तू सत्य मानता है, यह तो ऐसे ही बकता रहता है। परीक्षा करना चाहता है तो पहले अपनी कर। सिरपर हाथ रखकर देख। वह बोला—हाँ, तुम ठीक कहते हो। उसने सिरपर हाथ रखा कि भस्म हो गया। कहनेका मतलब यह कि भगवान् अवढरदानी तो हैं पर बड़े विलक्षण हैं।

भगवान् जिसपर दया करते हैं, कृपा करते हैं उसका धन हर लिया करते हैं—'**हरिष्यति तद्धनं शनैः**'। यह विषय भागवतमें आता है कि वे केवल धन ही नहीं हरते हैं, बल्कि व्यक्ति संसारकी वस्तुओंकी प्राप्तिके जिस उद्योगमें लगता है, उनकी कृपा उस उद्योगको नष्ट कर देती है। जिस काममें हाथ लगाया वही खतम, जिसमें हाथ लगाया वही समाप्त। सफलता कहीं मिलती ही नहीं। तब घरवाले कहते हैं कि यह मन्दभागी घरमें कहाँसे जनम गया। बाप कहता है कि बेटा न होता तो घर तो बरबाद नहीं होता। भाई कहते है कि यह घरसे निकल जाय तो बड़ा अच्छा। जब माँ-बाप, भाई-बहन, स्त्री—सब उसको अपमानित करते हैं तो वह घरसे निकल जाता है। घरसे निकल करके फिर वह जाता है किसी प्रेमी भगवद्भक्तके पास। वहाँ तो सबको आश्रय मिलता है, उसे भी आश्रय मिलता है। वहाँ वह मेरा प्रेम सीखता है और मुझे प्राप्त करता है। डरनेकी बात नहीं। अगर भगवान् यह हमारे साथ करें तो बड़े मङ्गलकी चीज है। क्यों न करें, हम क्यों न उसे अपनायें। डरें क्यों? पर यह भी सबके लिये नहीं है। सुदामाको भगवान्ने खूब सम्पत्ति दे दी। भगवान् देते भी हैं, लेते भी हैं पर वे हैं सद्वैद्य। किसीको दवा देते हैं कुनैन-जैसी कड़वी। भई, मलेरिया हो तो उसे कुनैन, नीम.... देना ही पड़ेगा, पर कोई रोग ऐसा

है कि मीठी दवासे काम चलता है तो मीठी भी देते हैं। उनको तो हित करना है न रोगीका। उनको अपने दामोंसे तो मतलब है नहीं कि चीजके बदलेमें दाम ले लिये। उनका तो स्वभाव है—जनहित। जहाँ जनहित स्वभाव है वहाँ जिसमें हित होगा वही भगवान् करेंगे। भगवान् सद्वैद्य हैं, दवा-विक्रेता नहीं। इसलिये भगवान् हमेशा मनचाही चीज देते ही हों सो बात नहीं, नहीं भी देते। विपरीत भी देते हैं। ऐसी भी देते हैं कि वह नारदकी भाँति जल उठता है उन्हींपर। कभी-कभी आदमी जल उठता है, उसकी परवाह वे नहीं करते। फिर नारदजी आये। नारदजीने पूछा कि महाराज! उस समय आपने क्या लीला की? मुझसे शाप ले लिया तो उन्होंने कहा कि भई, तुमने कहा था न कि मेरा हित करो। मुझे तुम्हारा हित करना था। इसलिये हमने वह काम किया और कोई बात नहीं। भगवान्‌के प्रति अगर सकाम भाव भी हो और अनन्य निष्ठापूर्वक हो तो उसमें हानि नहीं होती। या तो भगवान् उस कामना—वासनाको सर्वथा हर लेते हैं या भगवान् उस कामनाकी पूर्ति करके उसे अपना लेते हैं। दोनोंमेंसे एक बात भगवान् अवश्य करते हैं जो देवता और अन्यान्य कोई भी नहीं कर सकता।

दूसरी बात, जितने भी देवता हैं, वे सीमित दानी हैं। उतना ही दे सकते हैं, जितना उनके अधिकारमें है। पर भगवान् तो अमित दानी हैं। वे अपने-आपको देकर भी अपनेको ऋणी मानते हैं यह उनके स्वभावकी विशेषता है। अपने-आपको सर्वथा दे दिया और देकर भी मानते हैं कि अभी इसका पूरा ऋण चुका नहीं, अब यह जो कुछ मुझसे कराये, मैं करूँ। अपने-आपको भी देकर अपनेको ऋणी माननेवाला जगत्‌में अगर कोई है तो वे श्रीभगवान् ही हैं, दूसरा कोई नहीं। इतना देनेवाले अमित दानी ये ही हैं। भर्ता, भोक्ता, महेश्वर भी ये ही हैं। ये ही असली भर्ता हैं। भरण-पोषणका हमेशाका ठेका लिये हुए हैं। माँके पेटमें कौन भर्ता आता है? बताइये? सुनसानमें, वन—जंगलमें रहनेवालेका भी पोषण भगवान् करते हैं। जीवके साथ रहते हैं प्रतिक्षण। प्रत्येक अवस्थामें रहनेवाला कोई दूसरा है ही नहीं। मरे तो साथ जायँ, नरकमें साथ जायँ। किसीको पापवश नरकका कीड़ा बनाना हो वह भले ही बने, पर इनको साथ रहना पड़ता है। छोड़ नहीं सकते। इसलिये ऐसा भर्ता, भोक्ता और महेश्वर कोई दूसरा है ही नहीं।

इन भगवान्‌का भजन जब अंदरके मनसे होता है तो कुछ विशेष आनन्द आता है। ऊपरके मनसे होता है तो भजन होता नहीं। भीतरके मनका जो भजन है, वह कहीं-कहींपर सकाम भी होता है; जैसे—पतिव्रता स्त्रीकी गहने-कपड़ेकी इच्छा रहते हुए भी पतिमें उसकी अनन्य निष्ठा होती है।

भगवान् अन्तर्यामी हैं, सबके मनकी बात समझते हैं। भीतरके मनकी बातमें ऊपरके मनका विरोध भी दीख सकता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ऊपरके मनका विरोध दीखता है, पर अंदरसे दोनों एक होते हैं; जैसे—कैकेयी माता। कैकेयी माताके समान विरोध दिखानेवाला जगत्‌में कौन होगा? कैकेयी माताको सारा जगत्, सारे इतिहासकार और रामचरित्रके बड़े-बड़े लेखक रामका विरोधी ही समझते हैं। किसीने दुष्टा कहा, किसीने कुछ कहा—किसीने कुछ। पर कैकेयी माताने सब कुछ सहा। उन्होंने बदलेमें किसीको शाप नहीं दिया? किसी भी ग्रन्थमें नहीं आया है कि कैकेयी माताने गाली सुनकर किसीको शाप दिया। क्यों नहीं दिया? गाली सुननेके लिये ही उसने वह काम किया था। वह तो रामकार्य था। राम-काज करना है इस स्वाँगमें। इस प्रकारका बनकर कि लोग विरोधी कहें; पर रामजी विरोधी नहीं माने। रामने कहा है कि कैकेयीको जो पापी मानता है; वह नरकोंमें जायगा। असली बात रामने कह दी। रामसे एकान्तमें कैकेयीकी बात होती है। राम कहते हैं कि मैया! तेरे मनमें कोई क्षोभ तो नहीं हुआ न? सारा काम तो मैंने ही करवाया था। कैकेयी बोली—शोक तो नहीं हुआ, पर बड़ा कठिन है। आगे ऐसा काम किसीको सौंपना नहीं। कितना खला था। बेटातक कह दे कि तेरे जीभमें कीड़े क्यों नहीं पड़ गये। पति कह दे कि तू पिशाचिनी है। मुझे मारनेके लिये पैदा हुई है। पति-पुत्र दोनोंके द्वारा जो अभिशप्त हो। गुरु कह दें, गाँवके लोग कहें, जगत्‌के लोग कहें, नगरवाले कहें, घरवाले कहें—सारे जगत्‌में जो गाली सुननेके लिये अपनेको प्रस्तुत कर दे; पर रामका काम करे। ऐसा कोई था नहीं उस समय। रामका कार्य पूरा कौन करता? राम जो दैत्यों—राक्षसोंको मारनेके लिये आये। अरे, वन जाते नहीं, सीता-हरण होता नहीं तो रामका जो अवतार-कार्य था वह सम्पन्न कैसे होता? रामका अवतार-कार्य जो था उसकी **सम्पन्नताके लिये कैकेयी माताका यह नाट्य था, पर कितना भयानक! कितना**

मर्मवेधी!! गाली सह रही है और मनमें प्रसन्न है कि रामका कार्य हो रहा है। कभी-कभी इस प्रकारसे ऊपरसे विरोध होनेपर भी मनमें बड़ा प्रेम रहता है। यह है अंदरके मनका प्रेम, पर बाहरसे बड़ी कुटिलता है। रामको चौदह सालके वनवासके लिये और अपने हाथसे वल्कल वस्त्र लाकर राम और सीताजीके सामने रख दिये कैकेयीने। औरोंकी तो बात छोड़िये, परम ज्ञानी वसिष्ठ महाराजको भी क्रोध आ गया और वे बोल पड़े—हा! रामका वनवास हुआ और कलंकिनी इनको लाकर तू वस्त्र देती है। पर वह अपने कर्तव्यमें मस्त है। सब सुनती है, पर सब सहती है, किसीको शाप नहीं देती, किसीको बुरा नहीं कहती और फिर लज्जा-संकोचका भी नाट्य करती है। पर भगवान्‌को देखिये, वनमें गये तो पहले उनसे मिले—'**प्रथम राम भेंटी कैकेई**'। कौसल्या मैयाने वह काम नहीं किया। सहायता दी कौसल्या मैयाने भी। नहीं तो यदि बैठ जातीं वहाँ अड़ करके कि मैं माँ हूँ, नहीं मानने देती पिताकी बात। कौसल्या मैयाने नीति रखी। सुन्दर सदाचारकी बात कही कि बेटा! अगर पिताने यह बात कही हो तो तुम मेरी बात ऊँची मानकर वनमें न जाओ और अगर कैकेयी अम्बाने कह दी हो तो तुम जाओ।

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना॥ तौ कानन सत अवध समाना॥

तो यह नीति रखी वहाँपर। बड़ा सुन्दर भाव दिखाया, सहायता की वनमें जानेकी। सबने सहायता की, सीताजी अड़ जातीं कहीं कि नहीं जाने दूँगी तो बड़ी आफत होती और लक्ष्मण कहीं धनुष लेकर बैठ जाते कि मरूँगा और मारूँगा, नहीं जाने दूँगा, वह तो ऐसे ही थे। पर वह भी अनुगत हो गये उस समय। यह नहीं कहा कि मत जाओ। यह तो कहा कि अन्याय है, पर यह नहीं कहा कि जाओ मत। यह कहा कि तुम वनमें रहोगे तो मैं भी रहूँगा। लक्ष्मणजी भी लीलामें प्रकारान्तरसे भगवान्‌के सहायक हुए और सबसे बड़ा काम किया कैकेयी अम्बाने जो भगवान्‌की लीलाको सम्पन्न करनेके नाटककी पूरी भूमिका रच दी। वनमें नहीं जाते तो ऋषि कैसे मिलते? यह तो ठहरे राजा। वनमें कभी जाते भी तो सैर करनेको। पर वनमें गये तो तपस्वी वेषमें गये, तपस्वियोंमें रहे तो तपस्वियोंके सुख-दुःखको जाना। झोंपड़ीमें रहे। राक्षस कैसे आते हैं सब स्वयं अनुभव

किया। प्रण किया और फिर सीताहरण हो गया।

इसीलिये ये जो प्रेमी भक्त होते हैं वे अंदरके मनका इशारा पाकर कभी-कभी विरोधी कार्य भी किया करते हैं, लेकिन यह सबका अधिकार नहीं है। विरोधी कार्य करनेवाला कोई यह मान ले कि भगवान् प्रेरणा कर रहे हैं तब मैं यह कार्य कर रहा हूँ तो यह ठीक नहीं। कैकेयी अम्बा कैकेयी अम्बा थीं, वैसा किसी एकके भाग्यमें होता है, हर एकके भाग्यमें नहीं होता है।

तात्पर्य यह है कि भीतरके मनसे भगवान्का भजन ही वास्तविक भजन है, नहीं तो भजन नहीं। संसारको भजते हुए अगर हम भगवान्को भजना चाहते हैं तो इसका अर्थ है—रस्सा बाँधे हुए नाव चलाना चाहते हैं। संसारकी इच्छा, संसारकी वस्तुओंको प्राप्त करनेकी अभिलाषामें हमारा मन फँसा हुआ है। संसारकी वस्तुओंके आने-जानेमें फँसा हुआ यह मन ही रस्सा है। भगवान्को याद करके यदि कहें कि जो हमारे सम्बन्ध हैं, हमारे प्राणिपदार्थ हैं, ये बने रहें और बढ़ें, हमारा मन कभी निकले नहीं—यह प्रार्थना चाहे शब्दसे करें या भावसे तो रस्सा बँधा हुआ है। इस रस्सेको खोलनेका उपाय क्या है? उपाय यही है कि भगवान्का नाम लेते रहो, जपते रहो। हम तो अज्ञानमें रस्सा बाँधे बैठे हैं और डाँड़ खे रहे हैं और रोते हैं कि नाव चलती नहीं, पता नहीं क्या हो गया। हम रस्सीकी ओर देखते नहीं। किसी कृपालु संतने रस्सीको देख लिया, उसने आकर रस्सा खोल दिया तो नाव चली जायगी वहाँसे। इस तरहसे दो चीजें हमारे पास हैं जो रस्सा खोलनेवाली हैं। ये दो चीजें हैं—एक राम-नाम और एक संत। इसीलिये राम-नाम अगर जी भर आ जाय और सच्चा संत अगर आँखोंके सामने आ जाय तो फिर भवबन्धन स्वत: ही कट जाता है।

******

सबके स्वामी हैं भगवान।

जो कुछ भी है मिला तुम्हें, उस सबके स्वामी हैं भगवान।
दीन-वेशमें माँग रहे हैं वही वस्तु अपनीका दान॥
प्राणिमात्रमें दीनरूपमें दीनबन्धुके कर दर्शन।
नम्रभावसे अर्पण कर दो उनको उनके तन-मन-धन॥

(पद-रत्नाकर, पद सं० १४३४)

शरणागति और प्रेम

श्रद्धासे शरणागति प्राप्त होती है और शरणागतिसे समस्त चिन्ताओं एवं दुःखोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। विश्वाससे प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेम आनन्दका मूल है। श्रद्धा एवं विश्वास—ये दो चीजें ऐसी हैं, जो जीवनको सर्वथा पवित्र एवं सुखमय बनानेवाली हैं। जिस वस्तुको हम नहीं जानते उसे प्राप्त करेनेके लिये उसमें श्रद्धा आवश्यक है। भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये निम्न चार प्रकारकी श्रद्धा आवश्यक है—

१—**अस्तित्वकी श्रद्धा**—भगवान् हैं—इस बातमें श्रद्धा रहे। यदि इसीमें संदेह है कि भगवान् हैं कि नहीं तो यह संदेह जहाँ है; वहाँ उनको पानेकी इच्छा बहुत दृढ़ नहीं होगी। वस्तुके होनेमें संदेह होनेपर उसके मिलने न मिलनेका प्रश्न नहीं होता।

२—**भगवान्‌की प्राप्तिमें परम लाभकी श्रद्धा**—भगवान् मिलते हैं और उनका मिलना ही जीवनका सबसे बड़ा लाभ है—इस बातकी श्रद्धा जीवनमें होनी चाहिये। यदि कोई वस्तु मिलनेवाली है और उसके मिलनेमें कोई लाभ नहीं है तो उसकी तरफ कोई आकर्षण नहीं होता है तथा वस्तु प्राप्त होनेवाली नहीं है, ऐसी धारणा होनेपर उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न नहीं होता है।

३—**भगवान्‌की प्राप्यताकी श्रद्धा**—बहुतोंको अबतक भगवान् मिल चुके हैं। सत्यका साक्षात्कार बहुतोंने किया है, इस भावमें श्रद्धा आवश्यक है अन्यथा यदि संदेह है कि क्या अबतक किसीको भगवान् मिले हैं? ऐसा संदेह होनेपर आत्म-अविश्वास होता है और भगवान्‌की प्राप्तिकी साधना फलित भी नहीं होती। ऐसी श्रद्धा आवश्यक है कि भगवत्प्राप्तिकी साधना कर चुके जो योग्य अधिकारी हैं, उन्हें भगवान् मिले हैं।

४—**भगवान्‌की प्राप्तिमें श्रद्धा**—'भगवान् हमें अवश्य प्राप्त होंगे'—इस बातमें अटल श्रद्धा अत्यावश्यक है।

इसलिये भगवान् हैं, उनको प्राप्त करना ही परम लाभ है और वे प्राप्त होते हैं तथा अबतक अनेकको प्राप्त हो चुके हैं एवं हमें अवश्य प्राप्त होंगे—ऐसा दृढ़ विश्वास आवश्यक है। भगवान् हमें प्राप्त होंगे ही और

हम योग्य हैं नहीं। यहाँ एक विचित्र बात होती है कि जब भगवान्‌को प्राप्त करनेकी प्रबलतम तीव्र इच्छा होती है तो यह इच्छा ही सारी योग्यता ला देती है। वेदान्तमें तो इसका विशद वर्णन है कि मुमुक्षा अर्थात् मोक्षकी इच्छा जब उत्पन्न होती है तो उसके पूर्व ही षट्-सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। षट्-सम्पत्तियाँ हैं—सम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान। मनुष्यके अंदर जब किसी सौभाग्यसे सत्कर्मसे, किसी हेतु या संतोंकी कृपासे भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा जाग्रत् होती है तो उसमें सारी योग्यता अपने-आप आ जाती है। यह सिद्धान्त है कि संसारके समस्त भोग कर्मसे प्राप्त होते हैं। भोगोंकी प्राप्तिमें कर्मकी अपेक्षा है। हम बीज बोयेंगे तो उसमेंसे वृक्ष पैदा होगा, फिर पुष्पित होगा, फलित होगा, फल प्राप्त होगा। परंतु भगवान्‌की प्राप्तिमें कर्मकी अपेक्षा नहीं है, इच्छाकी अपेक्षा है। संसारका कोई भी भोग इच्छा करनेपर नहीं मिलता है। सभी इच्छा करते हैं कि अधिकाधिक धन, यश, मान, सम्मान, आराम और अधिकार मिले, परंतु सभीको नहीं मिलता; क्योंकि संसारकी वस्तुमें कर्मका फल है। कर्म वैसा हो तो उसका फल—उन वस्तुओंके भोगोंके रूपमें प्राप्त होता है। परंतु भगवान् किसी कर्मका फल, किसी बीजसे उत्पन्न कोई फल नहीं है। वे सदा-सर्वदा सबके लिये हैं और उनकी प्राप्ति इच्छासे होती है। तीव्रतर इच्छा होनेपर भगवान्‌की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। भगवान् और भोगविषयक सात बातें ऐसी हैं, जिनका विचार करके मनुष्य अपना कर्तव्य निश्चय कर सकता है—

१—भगवान्‌की प्राप्ति होती है इच्छासे और भोगोंकी प्राप्ति होती है कर्मसे। भोग इच्छाजनित न होकर कर्मजनित हैं। कर्म करनेयोग्य हमारी स्थिति रहे न रहे, जीवन रहे न रहे। कर्म तो लम्बी प्रक्रिया है जबकि इच्छा अभी तीव्र होनेपर साधना पूर्ण हो जायगी, काम बन जायगा।

२—भगवान् जब प्राप्त होते हैं तब पूर्ण होते हैं और भोग कभी पूर्ण होते नहीं। यह निश्चित सिद्धान्त है कि भगवान्‌में कभी अधूरापन नहीं रहता है। '**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥**' पूरेमेंसे पूरा निकाल दिया जाय तो पूरा बचता है। यह कभी पूरेसे कम हो ही नहीं सकता। यह भगवत्ता है जबकि भोग कभी पूरे नहीं होते। किसी किसी भोगको हम प्राप्त कर लें, वहींपर दूसरी

कमी हमारे सामने आ जायगी कि यह चीज और हो तो काम बने। भगवान् प्राप्त होंगे पूरे और भोग कभी पूरा नहीं प्राप्त होगा।

३—भगवान् प्राप्त होकर कभी बिछुड़ते नहीं और भोग कभी साथ रहते नहीं। कोई भी भोग हो—धन, मान, इज्जत, स्वास्थ्य, पद और अधिकार कुछ भी हो इनका वियोग अवश्यम्भावी है। सबका विनाश निश्चित है। जबकि भगवान् अविनाशी और नित्य वैसे रहते हैं, भगवान् प्राप्त होकर कभी बिछुड़ते नहीं हैं।

४—भगवान्‌की प्राप्तिकी इच्छा होनेपर मनुष्य पापोंसे छूटने लगता है, उन्हें छोड़ने लगता है। जितने असत् आचरण हैं, वे सारे-के-सारे भगवत्प्राप्तिके मार्गमें बाधक हैं। भगवत्प्राप्तिकी इच्छा होते ही साधनामें प्रवृत्त होनेपर सारे पाप छूटने लगते हैं। जबकि भोगोंकी इच्छा होनेपर स्वाभाविक रूपसे पाप होने लगते हैं। जैसे धन चाहनेपर मन ललचाता है और दूसरेके धनको देखकर उसे येन-केन-प्रकारेण प्राप्त करना चाहता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि 'भोगोंकी कामनासे पाप होते हैं।'

५—भगवत्प्राप्तिकी साधनामें लगते ही चित्त शान्त होने लगता है और भावनामें शान्ति आती है। जबकि भोग-प्राप्तिकी साधनामें नित्य अशान्ति रहती है, जो उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

६—भोगोंमें मन रहा, ममता रही और चित्त अशान्त रहा, तो मरते समय बड़ा दुःख होगा कि चीज छूट रही है, घर छूट रहा है, यह चीज नहीं कर पाया, बच्चोंका क्या होगा। नाना प्रकारसे भोगोंका चिन्तन करते हुए अशान्त मृत्यु होती है। भगवान्‌ने कहा है कि ऐसे लोग होते हैं जो '**चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः**' (गीता १६। ११) मरनेके अन्तिम क्षणतक अगर होश रहता है तो एक दो नहीं अपार चिन्ताके साथ मरते हैं, सुखसे मर नहीं सकते, परंतु जिनका भगवान्‌में मन रहता है वे बड़े आनन्दसे शरीर त्याग करते हैं कि अब भगवान्‌के आनन्दधाममें जाकर उनसे मिलेंगे।

७—जिसका मन भोगोंमें रहा, पापोंमें रहा वह मरनेके बाद नरकोंमें जाता है, बुरी योनियोंमें जाता है जबकि भगवान्‌में मन लेकर मरनेवाला तो भगवान्‌का ही होता है।

उपर्युक्त सातों बातें तो ठीक हैं, परंतु प्रश्न उठता है कि भगवान् हों तब मिलें। पता नहीं भगवान् हैं कि नहीं? इसके लिये युक्ति है। भगवान्‌की

सत्ता वास्तवमें स्वत:सिद्ध है, जो पहले श्रद्धा-विश्वास होनेपर ही उनका अन्तरङ्ग मालूम पड़ता है। अन्तरङ्ग जगत्को भी यदि देखते हैं तो सारे काम प्रकृतिमें नियमित रूपसे होते हैं। सूर्यका उगना और अस्त होना, चन्द्रमाका उदयास्त, नक्षत्रोंकी गति, समुद्रका सीमामें स्थित रहना, एक बीजसे ठीक वैसा ही फल उत्पन्न होना—ये सारी चीजें ऐसी हैं, जो सिद्ध करती हैं कि किसी बुद्धिमान्, कुशल, चेतनके द्वारा निर्मित एवं संचालित हैं। मान लें कि प्रकृति अपने-आप कर रही है तो यह प्रकृति हानि कर सकती है। इसमें कोई-न-कोई चेतन होना चाहिये। जो परमचेतन है उसे ईश्वर मान लेते हैं। इसमें कोई आपत्तिकी बात नहीं। वह जड़ नहीं चेतन है जिसके द्वारा सब कुछ होता है, वह ईश्वर है। इसकी सिद्धिके अनेक प्रमाण हैं। परंतु एक बुद्धिमानीकी बात है—एक व्यक्ति मानता है कि ईश्वर है और दूसरा मानता है कि नहीं है। यदि नहीं है तो दोनोंके लिये—माननेवाले और न माननेवालेके लिये भी। लेकिन जो मानता है, वह ईश्वरकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है। अत: जो नहीं मानता, वह प्रयत्न ही नहीं करता। अत: ईश्वरकी प्राप्तिके प्रयत्नमें कोई घाटा नहीं है। आजतक संसारमें लोकविधिकी जो भी बात हुई कि सच बोलनेवाला, सेवा करनेवाला, त्याग करनेवाला, भलाई करनेवाला, इन्द्रियोंको रोकनेवाला भला माना जाता है और उसके सुखसे संसारमें मानसिक सुख बढ़ते हैं। भगवत्प्राप्तिमें भगवान् हैं—इसका विश्वास होगा तो उसमें उपर्युक्त गुणोंका विकास होगा। साधनारत होगा। ईश्वरसे डरनेपर पापका भी भय रहेगा और यदि ईश्वर नहीं रहे तो वह घाटेमें नहीं रहेगा, अच्छी योनिमें जायगा। संसारमें नास्तिक भी यदि सत्यवादी होता है तो उसको अच्छा कहते हैं।

कुछ हानि हुई नहीं और समाजमें प्रतिष्ठा ही बढ़ी। लोगोंने अच्छा माना जिससे मान-सम्मान मिला, यश मिला। यदि बुरे कर्मोंसे डरे तो जेल जानेसे बचे, बेईमानीसे बचे—यह लाभ हुआ, इसमें अपने पाससे कुछ लगा नहीं। विश्वास नहीं रहनेपर कहेंगे कि कैसा परलोक? कैसा पुण्य? और कैसा भगवान्? जो है सब यहीं है। इससे छल-छद्म, कपट, बदमाशी, चोरी, डकैतीसे भोग पैदा करे और भोगे—यही काम रहा, जिससे समाजमें संघर्ष, कलह, विद्वेष, हिंसा और अशान्ति होगी तथा दुर्गुणोंका विस्तार होगा, प्रसार होगा। अतएव नास्तिक होनेपर भी सत्कर्म करनेपर घाटेमें मनुष्य

नहीं रहेगा और यदि ईश्वरका अस्तित्व रहनेपर नहीं मानकर छोड़ देगा तो बहुत भारी घाटेमें रहेगा। यदि ऋषियोंकी बात सत्य है और सत्य है ही तो मानव-जीवनका उद्देश्य भगवान्‌को प्राप्त करना है। जो इस उद्देश्यमें लगे ही नहीं, उसने इस दुर्लभ जीवनके सुअवसरको खो दिया। वह वञ्चित रह गया उस अवसरसे जो उसे बड़े सौभाग्यसे प्राप्त हुआ था। इसलिये घाटेमें रहा। जो ईश्वरको मानता है, वह प्रयत्न करके पा भी लेता है और लाभमें रहता है। अतएव मनुष्यको चाहिये कि यदि वह अविश्वासी है तब भी ईश्वरको मानकर अपने जीवनको उस तरफ मोड़े, कोई घाटेकी चीज नहीं है।

एक बात और ध्यानमें रखनी चाहिये कि नारद, व्यास, वसिष्ठ, शुकदेव आदि जिनका सम्पूर्ण जीवन त्यागमय रहा है, जिन्होंने धन, आरामका त्याग किया तथा जो इतने ज्ञानवान् हैं वे अपने जीवनका अनुभव बता रहे हैं कि भगवान् हैं और उनकी प्राप्ति होती है तब हमें उनकी बातपर श्रद्धा करनी चाहिये। उनके वचनोंपर हमें विश्वास करना चाहिये।

भगवान्‌में श्रद्धा करनेपर उनकी एक सुन्दर कल्पना हमारे मनमें आती है। वास्तवमें वह कल्पना नहीं है अपितु सत्य है, जो हमारी कल्पनासे कहीं अधिक है। हम भगवान्‌के सम्बन्धमें उतनी कल्पना कर ही नहीं सकते कि जैसे वे हैं। भगवान् जैसे हैं वैसी कल्पना हमारी बुद्धिमें आ ही नहीं सकती; क्योंकि वे बुद्धिसे परे हैं तथापि हमारी बुद्धिमें भगवान्‌की जो कल्पना आती है, वह इतनी विलक्षण है कि उनमें श्रद्धा होनेपर बरबस शरणागति हो जाती है और हम अनायास अपनेको उनके चरणोंपर छोड़नेको बाध्य हो जाते हैं—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

संत तुलसीदासजीके शब्दोंमें जिसने रामके स्वभावको जान लिया, वह बरबस भजन करनेको बाध्य होगा; क्योंकि वह स्वभाव ही ऐसा है। रामका—भगवान्‌का स्वरूप ही ऐसा है कि उस स्वरूपका परिज्ञान होनेपर—उसकी एक झाँकी मनमें हो जानेपर मनुष्य अपनेको बिना निवेदन किये रह नहीं सकता है। **'तुलसी राम-सनेह-सील लखि, जो न भगति उर आई'** और अगर इतनेपर भी नहीं करता तो वह संसारमें व्यर्थ ही पैदा हुआ। उसका तो जीवन ही नरकरूप है—**'ते नर नरकरूप जिवत जग'**।

यह सब संतोंके अनुभव हैं। भगवान्‌में श्रद्धा होनेपर, उनके स्वरूपमें, स्वभावमें श्रद्धा होनेपर स्वाभाविक शरणागतिकी प्राप्ति होती है। हमें अपने-आपको उनके प्रति न्योछावर कर देना है, उनके चरणोंमें डाल देना है। वे इतने बड़े हैं और इतने बड़े होकर भी इतने अपने हैं जो अवर्णनीय है। संसारमें जो बड़े हैं, वे छोटोंसे हमेशा दूर रहना चाहते हैं। अपना सम्बन्धी कोई बड़ा आदमी है वह शीलवान् है और हमसे स्नेह भी करता है, पर हम हमेशा उसके पास जा नहीं सकते। उसके पास बैठ नहीं सकते, बातचीत नहीं कर सकते, वह बहुत बड़ा और हम बहुत छोटे हैं, परंतु बहुत बड़ा होकर भी जो छोटोंका नित्य अपना है, ऐसा कोई तत्त्व है तो उसका नाम भगवान् है। भगवान्‌ने गीतामें अपने स्वरूपको बताया है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५। २९)

'जितने भी यज्ञ, तप तथा सत्कर्म होते हैं, जिस किसीके लिये हों उन सारे भोगोंका भोक्ता मैं ही हूँ तथा समस्त लोकोंके जो ईश्वर हैं उनका भी ईश्वर मैं हूँ।' इतना महान्। हम जो मानते हैं कि जिसके पास अधिक सम्पत्ति है वह बड़ा या जिसका अधिकार बड़ा, वह बड़ा। जैसे राजाको हम अधिकारसम्पन्न मानते हैं, परंतु है तो वह एक ही देशका राजा। सभी देशोंका नहीं और सभी देश हमारे एक ही विश्वमें हैं, ऐसे न जाने कितने विश्व हैं, कितने ग्रह और हैं, उनका प्रधान तो नहीं है। लेकिन भगवान् सारे लोकोंके ईश्वरोंके महान् ईश्वर हैं और वे ईश्वर '**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' इतने दयामय कि एक नगण्य प्राणीको जो तुच्छ-से-तुच्छ है जिसकी कोई गिनती नहीं, कोई जानता नहीं, उसके भी अपने हैं, सुहृद हैं अर्थात् जो हृदयसे अपनापन मानता हो। जिसमें अपनापन माननेमें कोई हेतु नहीं कि हमने कोई सेवा की। हमारा किसीसे व्यावहारिक, लौकिक, प्रेमका सम्बन्ध हो वह अपना माने तो एक बात, परंतु भगवान् कहते हैं कि मैं प्राणीमात्रका अपना हूँ। सुहृद् हूँ। इतना बड़ा और इतना अपना होता है—यह महत्ताकी बात है। सुदामासे जब श्रीकृष्ण मिलते हैं, भगवान्‌के नाते थोड़ी देरके लिये छोड़ दें। बड़े आदमी थे, उनमें शालीनता थी पर दोनोंकी स्थिति एक समान होती तो कोई महत्ता नहीं थी। सुदामासे सुदामासदृश

कोई ब्राह्मण गले लगकर मिलता तो कोई बड़ी बात नहीं होती। श्रीकृष्ण थे द्वारकानाथ, उनसे कोई अयोध्यानाथ आकर मिलते तो कौन बड़ी बात थी। उसमें क्या महत्ता थी! वह तो दरिद्र ब्राह्मण जिसके पास पहननेको कपड़ा नहीं, पैरमें जूता नहीं, कोई सामान नहीं, मैला-कुचैला, भूखा। उस ब्राह्मणसे राजमार्गपर, जन-पथपर खड़े होकर गलबँहिया डाले हृदयसे लगाकर भगवान् मिलते हैं प्रेमसे और रोते हैं। इसे देखकर तमाम द्वारकावासी स्तब्ध रह गये कि प्रेम हो तो ऐसा! बहुत बड़ा जब बहुत छोटेसे मिलता है तो उसकी बहुत महत्ता होती है। जिसकी कोई सीमा नहीं होती है। ये भगवान् जो हैं इनसे बड़ा कोई है ही नहीं। **'महतो महीयान्'** श्रुति कहती है कि श्रेष्ठोंसे श्रेष्ठतर जिनकी श्रेष्ठता अवर्णनीय है, वे कितने महान् होंगे। उन्हें हम अनन्त कहें, असीम कहें तो ये हमारी बुद्धिमें आनेवाली चीज है जिसकी कोई संख्या या सीमा नहीं होती। सीमा कहीं है पर हम कह नहीं सकते, जो ऐसी वस्तु है जो नित्य-नित्य एक है, असीम है, अनन्त है, महानतम है, वह एक अत्यन्त सीमित, क्षुद्र प्राणीके साथ बिना हेतुके प्रेम करता है—यह भगवान्‌की महत्ता है। इसीको लेकर भगवान् बड़े हैं। इसलिये जब भगवान्‌में श्रद्धा होती है और उनके इतने बड़े बड़प्पनका ध्यान आता है तब स्वयमेव हमारा चित्त उनके चरणोंमें अवनत हो जाता है कि कहाँ हम और कहाँ ये!

संसारमें भय और शोक सबको जलाये जा रहे हैं। वस्तु चली न जाय और उसका मिलना रुक न जाय इसका भय एवं चिन्ता तथा उसके चले जानेपर शोक एवं विषाद। भगवान्‌के शरणागत होनेपर ये भय और शोक मिट जाते हैं और निश्चिन्तता एवं निर्भयता आ जाती है, जो शरणागतिका स्वाभाविक धन होता है। जबतक चिन्ता और भय हमारे मनमें बने हुए हैं तबतक हम भगवान्‌के नहीं बने। हमने अपनेको भगवान्‌के प्रति निवेदित नहीं किया और उन्होंने अपनाया नहीं। यद्यपि वे अपनानेको तैयार हैं, हम ही उनसे अलग रहते हैं। शरणागति श्रद्धासे होती है, जिससे सारे दु:खोंका नाश हो जाता है। शरणागत भक्तोंके पापोंका नाश भगवान् स्वाभाविक रूपसे स्वयं करते हैं। छोटे बच्चेका मल-मूत्र माँ धोती है। माँ-बच्चेसे यह अपेक्षा नहीं करती है कि यह नहा-धोकर, साफ होकर आयेगा तब स्पर्श करूँगी और प्यार करूँगी। उसके सफाई और सुविधाकी

चिन्ता माँ करती है। इसी प्रकार जब मनुष्य भगवान्‌के शरणागत हो जाता है, अपने-आपको उनके चरणोंमें छोड़ देता है तो उसके योग-क्षेमका निर्वाह भगवान् करते हैं। उसके दुःखोंको, पापोंको भगवान् मिटाते हैं और उसकी सुख-सुविधाका प्रबन्ध भी करते हैं। अन्तर यह होता है कि सुख-सुविधा भगवान् सोचते हैं अपनी बुद्धिसे, हमारी बुद्धिसे नहीं। हम जिसमें सुख-सुविधा मानते हैं, सम्भव है कि हमारी बुद्धिका भ्रम हो और हमारे सुखोंका नाश होता हो। बालक किसी चमकीली चीजको देखकर चूल्हेमें हाथ डाले, उसे पता न हो कि आग है और उससे हाथ जल जायगा तो माँ दौड़कर उसे अलग कर देती है। बच्चा आगके स्वभावको नहीं जानता, इसलिये रोता है कि मेरे कार्यमें माँने बाधा डाल दी, लेकिन बच्चेका भला देखनेवाली जो माँ है, वह आगमें हाथ नहीं डालने देती। इसी प्रकार जब हम भगवान्‌के हो जाते हैं तो वे हमारी सुख-सुविधाका ध्यान रखते हैं और उसे सफलताके साथ पूरा भी करते हैं। हम जिसमें असमर्थ होते हैं उसे वे क्षणभरमें पूरा कर देते हैं, परंतु करते हैं अपने मनकी, जिसे वे ठीक समझते हैं।

शरणागत मनुष्य अपनेको सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ भगवान्‌के चरणोंमें छोड़कर निश्चिन्त हो जाता है कि वे जो सोचेंगे—करेंगे वह ठीक ही होगा। मुझमें सोचने-करनेकी शक्ति कहाँ है! उनसे भूल होती नहीं, वे सर्वसामर्थ्ययुक्त हैं तथा मेरे प्रति उनका सौहार्द भी है। इसलिये जो सर्वशक्तिमान् है, सर्वज्ञ है, सर्वत्र है, जिससे कभी भूल होती नहीं उसके हाथोंमें अपनेको सौंप दें, इससे बढ़कर सुविधाकी बात हमारे लिये और क्या होगी?

शरणागतको जब उसके सौहार्दमें विश्वास होता है तब वह यह बात भूल जाता है कि वह हमारा भला करेगा। फिर स्वाभाविक रूपसे उसके प्रति प्रेम, रति उत्पन्न होती है और आगे चलकर उस प्रेममें विलक्षणता आती है। प्रेमका जितना अधिक विकास होता है उतना-उतना स्वसुखकी इच्छा जो पहले थी वह बदल जाती है। प्रेमीमें भी स्वसुखकी इच्छा तो रहती है, परंतु उसका सुख विचित्र होता है; क्योंकि प्रेमी प्रेमास्पदके ही सुखको सुख मानता है। उसका अपना सुख अलगसे न होकर उसे प्रेमास्पदके सुखमें सुखकी अनुभूति होती है। यदि प्रेमास्पदका सुख हमारी लोकदृष्टिमें दुःख नामवाला हो तो हुआ करे। मिलनमें यदि प्रेमास्पदको सुख होता है तो हमारे लिये परमसुख। एक जगह वर्णन आया है कि श्रीराधिकाजीने

श्रीकृष्णको कहलवाया कि हमारी बड़ी अभिलाषा है कि निकुञ्जमें आओ, तुम्हारे न आनेसे बड़ी मार्मिक पीड़ा होती है, परंतु यदि न आनेमें तुम्हें सुख हो और यह तुम्हारे मनके अनुकूल हो तो वह तुम्हारा सुख और तुम्हारे मनकी अनुकूलता मेरे सभी दुःखोंको सुख बना देता है। यह प्रेमका स्वभाव है। बच्चेमें माँका प्रेम है। जाड़ेके मौसममें बच्चा जब बिस्तर गीला कर देता है तो माँ उसे सूखी जगहपर करके स्वयं गीलेमें ठंड भोगती है; क्योंकि इसीमें बच्चेको सुख है। जहाँ-जहाँ प्रेमका अङ्कुरण है वहाँ-वहाँ निज सुखका त्याग और प्रेमास्पदका सुख अपना सुख बन जाता है। इसीलिये प्रेम पवित्र कहा गया है। पवित्र इसलिये कि प्रेममें अपने लिये कुछ पानेकी लालसाका संकल्प भी नहीं रहता है। प्रेम केवल देना चाहता है और यदि कहीं लेना है तो देनेके लिये लेना है। देते हुए लेता है। प्रेमास्पद यदि अपने प्रेमीको कोई वस्तु दे और प्रेमी उस वस्तुको ग्रहण करे तो वह इसलिये ग्रहण नहीं करता है कि उस वस्तुसे उसे सुख होगा वरन् इसलिये ग्रहण करता है कि मेरे ले लेनेसे प्रेमास्पदको सुख होगा। इसलिये वहाँपर भी प्रेमी देता-ही-देता है। वह प्रेमास्पद किसी क्षण यह चाहे कि तुम सारी वस्तुओंको जला दो तो वह जला देगा; क्योंकि इसीमें प्रेमास्पदको सुख है। उस स्थितिमें प्रेमीको अपनी अवस्थासे, सौभाग्य-दुर्भाग्यसे, सुगति-दुर्गतिसे एवं अनुकूलता-प्रतिकूलतासे कोई सम्बन्ध न होकर केवल प्रेमास्पदके सुखसे सम्बन्ध है।

भगवान्‌को भक्तोंके द्वारा सुख पानेकी इच्छा होती है। जो नित्य पूर्ण है वह अपनी अपूर्णताका बोध करके किसी अपूर्णके द्वारा अपनी पूर्णता करना चाहे, यह सत्य बात नहीं है। जो नित्यपूर्ण, आप्तकाम, पूर्णकाम, निष्काम और अकाम है, वह अपनेमें अपूर्णताका अनुभव करके उसकी पूर्ति किसी अपूर्णसे कराये, यह असम्भव है। भगवान्‌में यह बात होती ही नहीं है, यह तो अज्ञानीमें होती है, किंतु प्रेमियोंका यह अनुभव है कि यह भगवत्-तत्त्व ऐसा नहीं है और भगवान् भी असत्य नहीं कहते। गीतामें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९। २६)

जो कोई भी यदि भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मुझे अर्पण करता है तो उस प्रेमसे सने हुए पदार्थको मैं स्वयं खाता हूँ। यहाँपर '**गृह्णामि**'—'ग्रहण करता हूँ।' नहीं कहा—ग्रहण तो भावसे होता है। पर यहाँ तो '**अश्नामि**' क्रिया है, जिसका अर्थ है 'खाता हूँ'। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ प्रेमरसभावित वस्तुके लिये भगवान्‌को भूख लग जाती है और उनमें कामनाका प्राकट्य हो जाता है। वे स्वयं लालायित हो जाते हैं कि मुझे वह वस्तु मिले। भगवान्‌का यह अकाममय काम, सर्वथा आप्तकाममें कमीका अनुभव और उस कमीकी पूर्ति उनसे करवानेकी इच्छा होती है जिनमें स्वयं अपूर्णता है। भक्त, प्रेमी कभी अपनेको पूर्ण मानता नहीं—यह सिद्धान्त है और ज्ञानी अपनेको अपूर्ण नहीं मानता। ज्ञानी यदि अपूर्ण माने तो ज्ञानी नहीं, परंतु प्रेमी यदि मान ले कि मेरा प्रेम पूर्ण हो गया तो वह प्रेमी नहीं। प्रेमी कभी पूर्ण नहीं है, अपितु वह अपूर्ण है। उस अपूर्णके प्रेमको पाकर भगवान् अपने प्रेम-रसकी भूखको मिटाना चाहते हैं। यह प्रेमकी विलक्षणता है। देवर्षि नारदजीने प्रेमके स्वरूपको बताया है कि '**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्**' (ना०भ०सू० ५१) प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है तथा '**मूकास्वादनवत्**' (ना०भ०सू० ५२)। वह वाणीमें नहीं आता, गूँगेके स्वादकी तरह अनुभवगम्य है; क्योंकि जब हम वाणीसे प्रकट करते हैं तो उसमें स्थूलता आती है, जिससे चाह बन जाती है और यह बिलकुल चाहके परेकी वस्तु है। कितना सुन्दर भाव है। यदि इसका अंशांश भी किसीके अन्दर प्रकट हो जाय तो जीवन पवित्र हो जाय। जियें तो दूसरेके लिये, दूसरेके सुखमें अपना सुख मानें। अपने अलग सुख, अपने आत्मेन्द्रिय प्रीतिकी कहीं भी किसी भी प्रकारके सुखकी कामना न रखे। चैतन्य महाप्रभुने एक जगह कहा है कि '**आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा तार नाम काम**' अपने इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी जो इच्छा है, चाहे वह किसी प्रेमास्पदसे हो, भगवान्‌से भी हो तो वह प्रेम न होकर काम है और '**कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम**' अर्थात् श्रीकृष्णको सुखी करनेकी इच्छा ही प्रेम है। लोग कहते हैं कि यह पागलपन है कि जो सुखस्वरूप है, उसको सुखी करनेकी इच्छा कैसी? परंतु यही तो प्रेमका जादू है कि नित्य सुखस्वरूपमें सुखप्राप्तिकी इच्छा पैदा हो जाती है और उस सुखकी इच्छा प्रेमीलोग करते हैं।

भगवान्‌से सभी कुछ-न-कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, पर प्रेमी लोग तो भगवान्‌को कुछ देनेके लिये जीते हैं संसारमें। यहाँ तो सभी माँगते हैं। कोई मोक्ष, कोई भक्ति, कोई स्वर्ग, कोई वैकुण्ठ तो कोई दर्शन माँगता है; परंतु प्रेमी तो भगवान्‌को कुछ देता है। वह कहता है हमें नरकका डर नहीं, स्वर्गकी इच्छा नहीं, भोगोंकी चाह नहीं और उनके नाशका डर नहीं एवं हमें मुक्ति भी नहीं चाहिये। हम तो तुम्हें देनेपर तुम्हारी हँसी देखते हैं। वह तुम्हारा मृदु हास, मुसकान! इस हँसीको हम देखते रहें और तुम्हें सुखी देखते रहें—यही अभिलाषा रहती है। प्रेमी चाहता है कि भगवान् हमसे कुछ लें और जरा मुसकरा दें, उनके चेहरेपर प्रसन्नता, होठोंपर आनन्दकी लहर, नेत्रोंमें तृप्तिका भाव, जिह्वामें सरसता और मुखमण्डलपर उत्फुल्लता देख लें तो हमारा जीवन धन्य हो जाय, इसके बदलेमें हमें कुछ नहीं चाहिये। प्रेमियोंका दर्जा सबसे ऊपर है। भगवान्‌के जो अवतार होते हैं, उनमें आवेशावतार, जो कुछ क्षणोंके लिये होते हैं उनको छोड़कर बाकी जैसे राम और कृष्णके अवतार—ये वास्तवमें प्रेमियोंके लिये होते हैं। ये जो असुरनाश, साधुपरित्राण आदि कार्य हैं, ये भगवान्‌के सामान्य कार्य हैं। जैसे कोई सम्राट् अपने प्रेमीके घर आता है मिलने तो उसके पीछे उसकी सत्ता और अधिकार भी आते हैं जो यहाँ अन्य कार्योंको सम्पन्न करते हैं। इसी प्रकार भगवान्‌का जब स्वयं प्राकट्य होता है तो मात्र प्रेमके लिये। दूसरे जो मामूली कार्य हैं उनकी सत्तासे स्वतः हो जाते हैं। इसीलिये कहा है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णरूपमें जब आते हैं तो यह नारायणरूप, विष्णुरूप, शिवरूप तथा शक्तिरूप भी होता है और ये सभी अपने-अपने कार्य यथास्थान करते हैं, परंतु उनका मुख्य कार्य तो निकुञ्ज-लीला ही है। यह तो उनका मुख्य कार्य है। केवल प्रेम केवल प्रेम है, और कोई काम उनका नहीं है। क्योंकि वह काम तो उनका अपना काम है। इसलिये भगवान्‌का शान्त रस है और जो कार्य है वह प्रकट-लीला है। भक्ति शान्त रसमें ही आती है, फिर ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर उसमें विकास होता है, त्यों-त्यों दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रसोंका विकास होता है। जिससे उनमें अधिक अपनत्व और समीपत्व उत्पन्न होता है।

हम भगवान्‌की प्रजा होनेके नाते उनके कितने समीप हैं और उनके राजा होनेके नाते भक्तिपूर्वक उनके महलोंके दास हो गये। दासके बाद

सख्यता प्राप्त हुई तत्पश्चात् वात्सल्य आ जाता है। जब पूर्ण आत्मनिवेदन हुआ और तन-मन तथा प्रकृतिपर पूरा अधिकार हुआ तो मधुर रस आ गया। इस मधुर रसमें उनकी स्वयं अधिष्ठात्री देवता और सर्वव्यापक भगवान्‌के रूपमें नहीं, बल्कि स्वयं प्रेमास्पदरूपसे प्रेमियोंके साथ उनकी क्रीड़ा होती है। प्रेमीके भगवान्, लोकसंग्रही भगवान्, अन्तर्यामी भगवान्, परमात्मा, विश्वात्मा भगवान् तथा सर्वातीत भगवान् तत्त्वतः एक ही है। परंतु सर्वातीत जहाँपर हैं, वहाँ जगत्‌की सत्ता नहीं है। जहाँ सर्वात्मक हैं वहाँ जगत् तो है परंतु जगत्‌के साथ उनकी आत्मा मिलित है, वे सब भूतोंमें स्थित हैं। जहाँ लोकसंग्रही भगवान् हैं, वहाँ अपने आचरणोंसे वे लोक-शिक्षा देते हैं तथा जहाँ प्रेमास्पद भगवान् हैं वह प्रेमीकी अपनी सम्पत्ति हैं। प्रेमीके लिये मात्र प्रेमास्पद हैं। नारदजीने सूत्र लिखकर प्रेमीका फल बताया है कि—'**सः प्रेष्ठं लभते**' (ना०भ०सू० ८४), उन्हें प्रियतमकी प्राप्ति होती है। उन्होंने प्रियतम कहा, भगवान् नहीं कहा, आत्मा-परमात्मा नहीं कहा। यद्यपि आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म अथवा परमेश्वर कोई भिन्न वस्तु नहीं हैं। इसलिये उस प्रेमीको भगवान् मिलते हैं प्रेमास्पदरूपमें—नितान्त अपनेकी तरह। वे भगवान् हैं, विश्वात्मा हैं, समस्त संसारके स्वामी हैं, हों—प्रेमीका इन रूपोंसे कोई प्रयोजन नहीं, उसके तो अपने हैं। यह जो आत्यन्तिक अपनापन है, आत्मीयताका एकमात्र केन्द्र जहाँपर है उस चित्तका, उस भावका नाम प्रेम है। यह प्रेम सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम वस्तु है।

प्रेमका विकास होता है त्यागमें। जहाँतक मोक्षकी भी इच्छा है वहाँतक त्याग नहीं है। जहाँतक उनके द्वारा किसी भी प्रकारसे सुखी होनेकी इच्छा है, वहाँ अपना सुख अलग रहेगा और प्रेम नहीं होगा। पूर्ण प्रेम तो होता नहीं है। प्रेमकी पूर्णता मानना प्रेमके स्वरूपको बिगाड़ना है। प्रेम तो प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द है। प्रेमका स्वरूप बताया है '**प्रतिक्षणवर्धमानम्**' (ना०भ०सू० ५४)। वह प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। भगवान्‌का रूपसौन्दर्य और भगवत्प्रेम दोनों प्रतिक्षण वर्धमान हैं। भगवान्‌के सौन्दर्यमें और प्रेमीके प्रेममें प्रतिक्षण होड़ लगी रहती है। भगवान्‌का प्रेमरूप कभी बासी नहीं होता, उसमें नित्य ताजगी रहती है। भगवत्स्वरूप नित्य नवायमान है। नित्यकिशोर होनेपर भी नित्य नव-नव है। इसी प्रकार प्रेमीका प्रेम भी नित्य नव-नव है। नये-नये भावोंको लेकर प्रेमसमुद्रमें लहरें उठती रहती हैं और

प्रेमास्पदको सुखी करती रहती हैं। उनको सुखी देखा फिर नयी लहरें उठीं। लहरोंको देखकर वे और सुखी हुए और उन्हें सुखी देखकर फिर नयी लहरें उठीं। बस, यही महारास है, नित्यविहार है जो अनवरत चलता रहता है। भगवान्‌का लीलाविहार यही प्रेम-विहार है, जिसकी झाँकी कभी-कभी इस लोकमें, कभी वृन्दावनमें, कभी अवधमें और कहीं-कहीं हो जाती है। लोग उसे गा-गाकर धन्य होते हैं। सुनकर पवित्र होते हैं, पावन होते हैं।

इसलिये यह प्रेम बहुत ही महान् है। हमारे योग्य तो नहीं। इसीलिये हमें पहले श्रद्धा करनी चाहिये। भगवान्‌पर श्रद्धा करें। श्रद्धा करनेपर भगवान्‌के स्वरूपकी झाँकी होगी। तदुपरान्त यदि हमारा बहुत बड़ा सौभाग्य उदय हुआ तो उनके चरणोंमें गिर जायँगे बिना किसी शर्तके। यह है शरणागत-निवेदन। यहाँतक हो गया तो बहुत है, आगेकी बात भगवन् स्वयं करेंगे।

******

बुराईसे बचनेका उपाय

मनुष्य जब कोई कामना करता है और वह प्राप्त नहीं होती है तो उसके मनमें जो चाह, कामना है वह क्रोधका, दुःखका और क्षोभका रूप धारण कर लेती है—

'कामात् क्रोधोऽभिजायते।' (गीता २। ६२)

इससे उस अज्ञानजनित आवेशके कारण उसके मनमें कल्पना होती है कि अमुक-अमुक व्यक्तियोंने मेरे कार्यमें विघ्न डाला, नहीं तो कार्य सम्पन्न हो जाता। यह कामनासे होनेवाला बड़ा अनर्थ है। कामना दूसरोंको व्यर्थ ही दोषी ठहरा देती है। जब किसीमें हमें दोषबुद्धि हो जाती है तो उससे द्वेष हो जाता है। दोषबुद्धि द्वेष पैदा करती है जिससे बिना हुए ही नये-नये दोष दिखायी देते हैं। अतः किसीके सम्बन्धमें कोई भी विचार करते हुए पहले अपनेको उस स्थितिमें ले जायँ। बुद्धिमान् पुरुष विचार करते हैं कि इस अवस्थामें हम होते तो हम क्या करते? बहुत बार परिस्थितिवश न चाहते हुए भी अप्रिय कार्य हो जाता है। मनुष्य एक कमजोर प्राणी है जो दूसरोंकी कमजोरीपर बहुत जल्दी ध्यान देता है और अपनी कमजोरियोंको

सहन करता रहता है। तुलसीदासजीने (विनय-पत्रिका १४३ में) कहा है—

आप पापको नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो॥

उन्होंने अपनेपर कहा कि मैं स्वयं ऐसा हूँ कि अपने तो पापोंका नगर बसा लेता हूँ और दूसरोंका खेड़ा (गाँव) भी सहन नहीं कर सकता। जबकि होना चाहिये इसके विपरीत। अपना जरा-सा भी पाप या भूल सहन नहीं होनी चाहिये; क्योंकि यह स्वयंके लिये हानिकारक है। जो अपनी भूलोंको नहीं समझता और उन्हें बनाये रखता है वह बुद्धिमान् नहीं है। जो दूसरोंके दोषोंपर बात-बातमें ध्यान दे और अपने दोषोंकी ओरसे सदा उदासीन रहे, वह मनुष्य कभी अपनी उन्नति नहीं कर सकता है। हमें अपनी उन्नति करनी है और उसका उपाय है कि हम अपने दोषोंको दूर करें। लोग कहते हैं कि यह हमारा स्वभाव है, नहीं बदलता। जब अपना स्वभाव जो बहुत कुछ हमारे अधीन है, जिससे हमें स्वयं हानि-लाभ है जब हम इसे बदलनेमें असमर्थ हैं तो दूसरेका स्वभाव बदलना कैसे सम्भव होगा? मनुष्यको चाहिये कि अपने स्वभावको बदलनेकी चेष्टा करे। अपने दोषोंके प्रति दोषबुद्धि प्रबल करके शनैः-शनैः अभ्याससे, संगसे और मनमें दृढ़ निश्चय करके परिवर्तनका प्रयास करे। यदि कोई नशा करता है और उससे मुक्ति चाहता है तो नशा न करनेवालेका संग करके मनमें दृढ़ निश्चय कर ले कि इसे छोड़ना है और धीरे-धीरे छोड़नेका अभ्यास करे तो नशेसे मुक्ति मिल जायगी। लेकिन वह पहले ही मनमें कमजोरी कर लेता है कि मुझसे छूटना मुश्किल है। जैसे कोई पहले ही तय कर ले कि मेरा तो झूठ बोले बिना काम नहीं चलेगा तो उसका काम नहीं चल सकता। इस प्रकारका निश्चय जहाँ परिवर्तनके लिये मानसिक रूपसे तैयार ही न हो वहाँ परिवर्तन नहीं हो सकता। बुराईमें जब मनुष्यका निश्चय होता है तो वह बहुत बुरा होता है। निश्चय भलाईमें होना चाहिये कि अमुक सत्कार्य मैं अवश्य करूँगा।

भगवान् बुद्ध जब बोधगयामें वटवृक्षके नीचे बैठे तो उन्होंने उसी समय प्रण कर लिया कि चाहे शरीर रहे या जाय जबतक मुझे बोध नहीं होगा, तबतक यहाँसे नहीं उठूँगा। बस, बोध हो गया। यह अपना जो निश्चय है यह बहुत बड़ी सहायता करता है। बालक ध्रुव जब घरसे निकला तो माताको वेदना हुई कि छोटा बच्चा है इसे परेशानी होगी। ध्रुवका मातासे

स्नेह तो था, परंतु भगवान्में भरोसा था इसलिये घरसे निकल गया। ऐसे कार्यमें गुरु चाहिये। हमलोग जो गुरु खोजते हैं और गुरु नहीं मिलते लेकिन खोजते कहाँ है? जब गुरुकी आवश्यकता सन्मार्ग बतानेकी होती है तो भगवान् भेज देते हैं। ध्रुवका निश्चय पक्का था तो उसे रास्तेमें नारदजी गुरु मिल गये। उन्होंने उसकी परीक्षा ली, उसके निश्चयको परखा। कहा—'मेरे साथ चलो, मैं राजासे कहकर तुम्हें राज्य दिलवा दूँगा।' उसने कहा—'माँने कहा है कि भगवान्से लेना है आपसे नहीं लेना है।' फिर नारदजीने उसे भय दिखाया कि जंगलमें जा रहे हो वहाँ घर नहीं, माँ नहीं, जंगली जानवर रहते हैं, आँधी-पानी आयेगा तुम्हें बहुत कष्ट होगा, परंतु ध्रुवने कहा—'वह सब तो ठीक है लेकिन भगवान् तो सब देखते हैं।' उसका बालहठ देख और उसके पक्के निश्चयको देख नारदजीने उसे वहीं मन्त्र भी दिया और वरदान भी दिया। नारदजीद्वारा प्रदत्त प्रसिद्ध द्वादशाक्षर मन्त्र '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' ध्रुवको मिला। नारदजीद्वारा दिया गया और दृढ़ निश्चयी ध्रुवद्वारा लिया गया। इसकी विशेष महत्ता है और छः माहमें ही मन्त्र सिद्ध हो गया तथा मन्त्रके देवता भगवान् प्रकट हो गये। इस प्रकार जहाँ निश्चय अच्छे कार्यमें होता है वहाँ भगवान् सहायता करते हैं और जहाँ निश्चय बुरे कार्यमें होता है, वहाँ चारों ओरसे राक्षस आकर सहायता करते हैं। जिस प्रकारका हमारा मन, वृत्ति और निश्चय होगा उसी प्रकारकी हमें अन्तरिक्षसे सहायता प्राप्त होती है। थियोसोफी पंथके लोगोंने भी इसे माना है कि अन्तरिक्षमें अच्छे-बुरे अन्तरिक्षचारी जीव घूमते रहते हैं और वे अपने-अपने ढंगके जो लोग मिलते हैं उनकी सहायता करते रहते हैं। इसलिये जब हमारा सत्कार्यमें दृढ़ निश्चय होगा तो देवताओंसे, भगवान्से, अच्छी सहायता मिलेगी, जो बाधा होगी उसे भगवत्कृपा हटा देगी। लेकिन जबतक निश्चय पक्का नहीं होगा, तबतक हम कहेंगे कि हमारा अभ्यास छूटनेका नहीं, हमारा स्वभाव बदलेगा नहीं। यदि मनुष्य चाहे तो वह देवता बन सकता है। भगवान्के समीप जा सकता है उसे यह अधिकार और सामर्थ्य भगवान्ने दिया है। भगवान्की कृपा तो उसे प्राप्त ही है।

'**साधन धाम मोच्छ कर द्वारा**' यह मनुष्य शरीर साधनका धाम है। इसमें तमाम साधन भरे हैं जिसके योग्य जो है वह अपनाये। साधन अनेक हैं परंतु साध्य एक ही है। साधन सरल भी है और कठिन भी

है और दोनोंके द्वारा लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। अपनी-अपनी रुचि और शक्तिके द्वारा जितना कर सकता है उतना करना चाहिये। परंतु करनेमें बेईमानी, आलस्य तथा प्रमाद न करे। इच्छा प्रबल रखे। इच्छा सच्ची होनी चाहिये और निष्ठा रहे। इच्छामें यदि निष्ठा है तो वह वस्तु दैवी शक्तिसे प्राप्त हो जाती है। निषादपुत्र एकलव्यकी इच्छा हुई कि मैं अर्जुनके समान धनुर्धर, बाणविद्यामें निपुण बनूँ। उस कालमें परशुरामजीको छोड़कर द्रोणाचार्यके समान इस विद्याका ज्ञाता कोई नहीं था। परंतु परशुरामजी सिखाते नहीं थे इसलिये एकलव्य द्रोणाचार्यसे सीखनेका दृढ़ निश्चय करके उनके पास गया। द्रोणके आनेका कारण पूछनेपर उसने अपना मन्तव्य निवेदन किया। द्रोणने कहा कि मैं अर्जुनको वचन दे चुका हूँ कि तुम्हारे समान किसीको सिखाऊँगा नहीं। एकलव्यने कहा—मुझे आपहीसे सीखना है तो उन्होंने उत्तर दिया कि मैं सिखाऊँगा नहीं तो कैसे सीखोगे? फिर एकलव्यने द्रोणका विग्रह मनमें बैठाया, निश्चय पक्का, श्रद्धा पक्की और जंगलमें जाकर अपनी कुटियामें मिट्टीकी द्रोणकी मूर्ति बनाकर उसके सामने रोज प्रयोग करे और कहे कि आपकी कृपासे मेरा यह प्रयोग सिद्ध हो जाय। जो ठीक हो वह विचार मेरे मनमें आ जाय और ठीक ऐसा ही होने लगा। जब वह निपुण हो गया तो एक दिन कहीं जा रहा था तो कुत्ता भौंक रहा था, उसका भौंकना बंद करना था। संयोगवश अर्जुन भी जा रहे थे, परंतु उनके ध्यानमें यह बात नहीं आयी और एकलव्यने बाणोंसे उसके मुँहको भर दिया कि चोट भी नहीं लगी और भौंकना भी बंद हो गया। तब अर्जुनने साश्चर्य उससे पूछा कि भाई! यह विद्या किससे सीखी? उसने उत्तर दिया कि द्रोणाचार्यसे। अर्जुनद्वारा द्रोणाचार्यसे कहनेपर एकलव्यको बुलाया गया और उससे पूछा कि कहाँसे सीखा तो उसने उत्तर दिया कि आपसे। मैंने निश्चय कर लिया था कि धनुर्विद्या आपहीसे सीखूँगा और उसने सारा वृत्तान्त कह दिया। इसका मतलब मात्र इतना है कि यदि आदमी निश्चय कर ले कि मुझे अमुक कार्य करना है तो बुरे कार्यका निश्चय तो बहुत बुरा, पर यदि अच्छे कार्यका निश्चय करे तो उसमें सिद्धि मिल जायगी। भगवान् भी सहायता करते हैं।

इसलिये हम जो कहते हैं कि यदि हमारा स्वभाव है उसे बदल नहीं सकते तो यह यथार्थ नहीं है। हम चाहते हैं कि अमुकका बर्ताव

अच्छा नहीं है उसको बदले, अपना बदलनेकी गुंजाइश नहीं है। दूसरा अच्छा बने तब हम अच्छा बनेंगे। इस प्रकारकी आशा बिलकुल नरक है। दूसरेके अच्छा बननेकी प्रतीक्षामें यदि हम पहले मर गये तो वह बना न हम बने। जो अच्छा कार्य अपनेको करना है उसमें बिना किसीकी प्रतीक्षा किये हिम्मतके साथ आरम्भ कर देना चाहिये। जैसे भजन करना है, आजसे यह बुराई त्यागनी है, अमुक कर्मका त्याग करना है तो जहाँ साहसके साथ दृढ़ निश्चय हुआ वहाँ सफलताके मार्गमें अग्रसर हो जाते हैं। अटल दृढ़ निश्चय इस प्रकारका कि—

चन्द्र टरै सूरज टरैं, टरै जगत् व्यवहार।
पर दृढ़ श्रीहरिश्चन्द्रको, टरै न सत्य विचार॥

इस प्रकार जैसे पतिव्रता सतीका विचार होता है वैसा दृढ़ निश्चय करे तो भगवान् अद्भुत सहायता करते हैं जिससे कार्य बहुत शीघ्र होता है। अतः जहाँ-जहाँपर अपना कार्य न हो वहाँ-वहाँ जो दूसरेके दोष देखनेकी अपनी बुद्धि बन जाती है उसका त्याग करे। दूसरेके साथ भलाई करते हुए यह न देखे कि पहले यह भलाई करेगा तब हम करेंगे। किसीसे लड़ाई होनेपर वैमनस्य हो जानेपर मनुष्यका जो झूठा अहंकार है वह उसे बार-बार अच्छाईसे रोकता है, परंतु यदि साहससे विनम्र होकर अपने दोषके लिये क्षमा-याचना कर ले तो यह अति उत्तम है। द्वेष-वैर लेकर मरना बहुत बुरा है। किसी प्राणीसे किसी प्रकारका हमारे मनमें द्वेष-वैर न रहे। हमारा बुरा हमारे अपने कर्मके अलावा और कोई कर ही नहीं सकता। यदि हमको हमारा बुरा होनेमें दूसरेका हाथ दिखता है तो भगवान्से प्रार्थना करें कि प्रभो! इसने जो हमारेपर वैरभाव बना रखा है इसको क्षमा करके इसकी बुद्धि ठीक कर दें जिससे यह पुनः ऐसा न करे। अगर यह दुःखी हो तो इसके दुःखका निवारण करें। इससे भगवान् बड़े प्रसन्न होते हैं। हमको जो दुःख मिलना है वही मिलेगा। पर यदि हमने उसको बचा दिया, बड़े पापसे भगवान्से प्रार्थना करके तो उसकी सेवा की, भगवान्की सेवा की। भगवान्के संतानको हमने सुपथमें लगानेमें सहायता की, सद्भावना की।

इसलिये निरन्तर यह ध्यान रखना चाहिये कि अपनी अच्छाईका त्याग न हो और अच्छाईकी पहल करनेमें संकोच न हो। निरन्तर अच्छा करना ही है।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

संतका तो यह चरित्र होता है कि बुरा करनेवालोंका भला करे। बहुत बार ऐसा होता है कि हम सोचते हैं कि अमुकने हमारा बुरा कर दिया, परंतु बादमें मालूम होता है कि हमारी सोच गलत थी। कभी-कभी अच्छा होनेपर भी हम अपनी दुर्बुद्धिसे बुरा मान लेते हैं। जैसे बच्चेको कड़वी देवा देनेपर वह रोता है और बुरा मानता है परंतु जब उसे होश आता है, सयाना होता है तब समझता है कि इसने मेरी प्राणरक्षा की है। इस प्रकार अनेक बार किसीके भला करनेपर भी, अपनी दृष्टिसे प्रतिकूल दिखनेपर हम बुरा मान लेते हैं। अनेक बार कोई जानबूझकर बुरा नहीं करता। उससे बुरा हो जाता है। कई बार हम मिथ्या ही कल्पना कर लेते हैं कि इसने बुरा किया जबकि इसमें उसका कोई हाथ ही नहीं। बुराई किसी औरने की और हम वहम किसी दूसरेके प्रति करने लगते हैं। इसलिये निरन्तर इसका ध्यान रखना चाहिये कि दूसरेको बुरा करनेसे, बुरा माननेसे पूर्व अपनेको देखें कि कहीं हममें ऐसी कोई बुराई है कि नहीं। यदि है तो हम दूसरेको कहनेसे पहले अपनेको ठीक करें—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझ-सा बुरा न होय॥

अपने-आपको देखेंगे तब वास्तविकताका पता चलेगा। अनेक बार दूसरेकी बुराई करनेकी हमारे मनमें आती है। कितनी बार दूसरोंका बुरा देखकर हमें खुशी होती है। यह क्या हमारा अच्छापन है? योगदर्शनमें कहा गया है कि जब हमारे मनमें किसीके प्रति दोष आ गया तो वह दोष अपनेपर आयेगा। हमारा दोष हमीको जिम्मेवार बनायेगा। यह कर्मका सिद्धान्त है। इसलिये कहीं भी कोई दोष आता हो तो उससे सावधानीपूर्वक बचना चाहिये। बचनेका उपाय है कि प्राणीमात्रमें भगवान् हैं ऐसा माने। जगत्की भलाई देखे। जगत्में जहाँ-जहाँ भलाई है उससे अपना योग कर ले और उस भलाईको ग्रहण करनेकी चेष्टा करे।

यदि बुराई अपने घरमें, माता-पिता और गुरुमें भी दीखे तो उनके लिये प्राण त्याग दे, लेकिन उस बुराईको ग्रहण न करे। इससे उनका भी भला होगा। हमारी बुराई यदि विस्तार पानेके स्थानपर जाती है तो **बढ़ती है और यदि स्थान नहीं पाती है तो घटती है तथा मिट जाती है।**

यह बात नारदभक्तिसूत्र (४५) में है कि बुराई तरङ्गकी भाँति मनमें आती है और यदि उसे वहीं तत्काल नाश न करके अवकाश दे दिया तो वह समुद्र बन जाती है—**'तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति।'** फिर वह बुराई हमारा रूप बन जाती है, जिसे हम छोड़ नहीं सकते। यदि हमें किसीने गाली दी और हमने ले ली तो हममें गाली आ जायगी। यदि हमने उसकी गाली स्वीकार नहीं की तो उसके पास रह जायगी और वह आगे चलकर पश्चात्ताप करेगा। लेकिन हमारी भावना होती है कि यदि बुरेको दण्ड नहीं दिया तो वह आगे चलकर बहुत बुरा बन जायगा; इसलिये दण्डनीतिकी आवश्यकता है। परंतु जहाँ दण्डमें द्वेष आ जाता है वहाँ शुद्ध दण्ड नहीं होता है, जो प्राय: आ ही जाता है। दण्डसे जो कार्य होता है उसकी अपेक्षा अधिक स्थायी, ठोस और निर्मल कार्य प्रेमसे होता है। यदि किसी कार्यमें १०-२० प्रतिशत खराबी हो और ८०-९० प्रतिशत अच्छाई हो तो अच्छाईको मानना चाहिये। वहाँ जो कमी रहती है वह अपने प्रयोगमें कमी रह जानेके कारण होती है।

अहिंसाका बदला हिंसा नहीं हो सकती है। योगदर्शन (२।३५) में आया है कि—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।'** जिसके अंदर अहिंसाकी पूरी प्रतिष्ठा है उसके आस-पास रहनेवाले हिंसक जीवोंसे भी हिंसा निकल जाती है। अगर हिंसा है तो इसका मतलब कि हमारे मनमें अभी हिंसाका कुछ स्थान है। हम पूर्णरूपेण अहिंसक नहीं हुए हैं। सिद्धान्त यही है कि जो कार्य प्रेम, अहिंसासे होता है वह हृदयपरिवर्तनकारी होता है और जो दण्डसे होता है वह डरकर होता है, उस कार्यमें घृणा नहीं होती है। जबतक बुराईसे घृणा नहीं होती तबतक पापकर्म होते रहेंगे। जब बुराईमें पापबुद्धि हो जायगी तो एकान्तमें भी उसे करनेमें बुद्धि रोकेगी। शास्त्रोंने जो कहा है कि यह काम न करो पाप है तो जो एकान्तमें भगवान्‌को, धर्मको समझकर पापसे बचेगा, वही ठीक बचेगा। जबतक बुराईमें घृणाबुद्धि नहीं होती तबतक कानूनसे बहुत कम बचाव होगा।

पाँच प्रकारके भय होते हैं जिनसे आदमी सन्मार्गपर चलता है। ये हैं—ईश्वरका भय, धर्मका भय, राज्यका भय, समाजका भय और अपने पतनका भय। आजकल चार भय तो लोगोंके मनसे प्राय: निकल गये हैं। सिर्फ राज्यका भय ही है कि कहीं पकड़े न जायँ और अपनी हानि न

हो। तब मनुष्य पापसे कैसे बचे? इसके लिये विचार करे कि ईश्वर देखता है, अधर्म होगा, समाज क्या कहेगा, मनमें पश्चात्ताप करे। आज कोई सफलतापूर्वक पाप करके आता है तो समाज उसे सम्मान देता है जिससे सबके मनमें भाव आता है कि ऐसे बनें। इस तरह मनुष्य बुराईसे नहीं बच सकता है। बुराईमें घृणाबुद्धि होनी चाहिये और यह तब होगी जब हम बुराईको बुराई मानें। यह भी तब होगा जब हम अच्छाईको अच्छाई मानें। जब हम अच्छेको अच्छा मानेंगे तब दूसरेकी प्रतीक्षा नहीं करेंगे कि दूसरा अच्छा करे तो अच्छा करें। पैसा कमानेमें क्या हम कभी सोचते हैं कि पड़ोसीके पास हो जायगा तब हम कमायेंगे? अगर ऐसा भाव आये तो बहुत अच्छा।

श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि जब भगवान्ने एकान्त अरण्यमें शरत्पूर्णिमाको वंशी बजायी तो जिन-जिन गोपाङ्गनाओंके सुननेमें वंशीकी ध्वनि आयी, वे सभी अभिसारके लिये घरसे निकल गयीं बिना किसीसे कुछ कहे और द्रुतवेगसे दौड़ीं कि पहले हम पहुँच जायँ। जहाँ लाभदृष्टि, पुण्यदृष्टि, प्रेमभावना और आदरभाव है, आवश्यकता है वहाँ हम दूसरेकी बात नहीं देखते। आदमी जीवनमें बुराईकी दूकान खोले बैठा है, उसे चाहिये कि भलाईकी दूकान खोले। दूकान न खोले पर आतुर रहे कि कैसे किसीकी भलाई हो जाय। अहर्निश उसकी चर्चा, चिन्ता, क्रिया परहितकी रहे। इससे जो उसके पास आयेगा वह भला सुनकर, भला आचरण देखकर जायगा और वह कुछ अच्छा ही प्राप्त करेगा। जिसके अन्दर राग, द्वेष, वैर तथा क्रोध भरा है वह दूसरेको वही देगा और जिसके अंदर प्रेम तथा आनन्द भरा है वह प्रेम, आनन्द ही देगा। नदीमें शीतल जल भरा हो तो उसमें गर्म जल कहाँसे पायेंगे? सूर्यमें प्रकाश भरा है तो वह अंधकार कहाँसे देगा? भगवान्में सौहार्द भरा है तो किसीके साथ वैर कैसे करेंगे? श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि भगवान्की सबसे बड़ी शक्ति है उनकी कृपाशक्ति, सौहार्दशक्ति जिसके वशमें वे रहते हैं। भगवान् किसीको मारते हैं तो उनकी कृपाशक्ति उसका उद्धार कर देती है। भगवान्ने मारा उनकी कृपाने तारा। कृपाशक्ति भगवान्में स्वाभाविक है। किसीका बुरा भगवान् करते नहीं, कर सकते नहीं। इसी प्रकार जिसके अंदर जो चीज प्रधानतया है उससे उसीका स्वाभाविक वितरण होता है, न करने जाय तो भी। आप पास जायँ तो उसमेंसे उसी प्रकारके परमाणु निकलकर प्राप्त होते रहेंगे, स्वाभाविक रूपसे।

भागवतमें एक कथा आती है कि जब भगीरथजी गङ्गाजीको पृथ्वीपर लाये तो गङ्गाजीने कहा कि आप हमें यहाँ लाये और मेरा कार्य है—सबके पापोंको धोकर अपने अंदर रख लेना। तमाम लोग नहाने आयेंगे और पाप हमें देते चले जायँगे। फिर हमारे पापका क्या होगा? उसके दो उत्तर हैं—पहला यह कि जो दूसरोंके पाप धोता है, उसके पास लोगोंके पाप पुण्य बनकर रहते हैं। दूसरा उत्तर भगीरथजीने बड़ा सुन्दर दिया कि जब संत-महात्मा लोग आकर् आपमें स्नान करेंगे तो उनके जलके अंदर घुसते ही आपके अंदर संगृहीत पापराशि स्वतः जलकर भस्म हो जायगी। '**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि**'। जिन स्थानोंमें अच्छे पुरुष रहें, अच्छा बोलें, अच्छे कार्य करें तो उस स्थानके परमाणुमें, जलमें, वायुमण्डलमें, आकाशमें, पेड़-पौधोंमें और धूलकणोंमे उनके परमाणु भर गये जो आजतक लोगोंको पवित्र करते हैं। तीर्थोंमें यही खास बात है। अच्छे पुरुषोंके संगसे बुरा स्थान भी तीर्थ बन जाता है और बुरे पुरुषोंके संगसे तीर्थ भी गिर जाता है, उसकी शक्ति क्षीण होते-होते तीर्थत्व नष्ट हो जाता है। इसलिये सत्संग करें। बुरे विचार और बुरे कर्मका संग बुरे आदमीके संगसे भी बहुत बुरा है। इनका संग सर्वथा त्याग दे। बुरे विचारके समान कोई शत्रु नहीं जब भी यह मनमें आये तो पश्चात्ताप करें।

'**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥**' (गीता ६। ५)

मनुष्य आप ही अपना वैरी है और स्वयं ही अपना मित्र है। जिसका मन जीता हुआ है और उसमें शुद्ध विचार हैं वह आप ही अपना मित्र है और जिसके मनमें बुरे विचार हैं तथा उसका मन जहाँ चाहे जाय तो वह आप ही अपना शत्रु है। बाहरका वैरी कोई नहीं, यह तो हम मानते हैं अपने वैरकी भावनासे। युधिष्ठिरने किसीको वैरी माना ही नहीं इसलिये उसका नाम है अजातशत्रु। इसलिये हमेशा बुराईका त्याग कर अच्छाई ग्रहण करें। यह भगवान्‌को बहुत प्रिय है। उन्होंने कहा—मुझे सबसे अप्रिय वह है जो द्रोह करता है, द्वेष करता है। जब गीतामें उन्होंने भक्तोंकी सूची बतायी तो सर्वप्रथम कहा—'**अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्**' हमारे मनमें किसी भी प्राणी, किसी भी जीवके प्रति द्वेष न रहे; क्योंकि इससे हानि भगवान्‌की ही होती है। जैसे, एक गुरुजीके दो चेले थे उन्होंने सेवा करनेके लिये गुरुजीकी टाँगें बाँट रखी थीं। एक दायीं टांगकी सेवा करना, दूसरा बायीं

टांग की। एक दिन दायीं टाँगवाला बाँयी टाँगको दबाने लगा तो बायीं टाँगवाला क्रोधमें आकर कहने लगा—मैं तेरीवाली दायीं टाँग तोड़ दूँगा। दूसरेने कहा—मैं तेरीवाली टाँग तोड़ दूँगा। तब गुरुजीने कहा—भाई, दोनों टाँगे मेरी हैं। टाँग मेरी टूटेगी। इसी प्रकार हम सब भगवान्‌के एक-से हैं तो जब किसीसे द्वेष करते हैं तो भगवान्‌की टाँग तोड़ते हैं अर्थात् हम अपनी बुराई स्वयं करते हैं। इसलिये दूसरेका बुरा न कभी चाहे, न देखे, न करे।' तीन प्रकारसे बुरा होता है—कृत्य, कारित और अनुमोदित। एक तो बुरा करना, दूसरा बुरा करवाना और तीसरा बुरा होनेपर सहमति व्यक्त करना। इसलिये इन तीनों स्थितियोंसे बचना चाहिये।

अपनी उन्नति चाहनेवालेको परनिन्दा और परचर्चासे हमेशा दूर रहना चाहिये। भागवतमें कहा गया है कि करना तो दूरकी बात है दूसरेके गुण-दोषका चिन्तन भी न करे, लेकिन यदि करना ही पड़े तो किसीके दोषपर दृष्टि ही न डाले, गुण ही कहे। दोष-चिन्तन और परनिन्दा बहुत बुरी चीजें हैं। इन दोनोंका त्याग करनेपर बहुत लाभ हो जायगा—

तेरे भावै जो करो भलो बुरौ संसार।
नारायन तू बैठि के अपनौ भवन बुहार॥

बंकिम बाबूने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम है 'समन्वय'। उसमें लिखा है कि 'माना कि तमोगुण रहना चाहिये परंतु इसे यों ही मान लेंगे तो तमोगुण बढ़ जायगा और सतोगुण घट जायेगा।' तमोगुण जितना रहना चाहिये उतना अपने न चाहनेपर भी रहेगा। समन्वय करना है तो सतोगुण बढ़ायें। सतोगुण बढ़ेगा तो तम और रज सीमामें आकर जितनी आवश्यकता है उतने रह जायँगे, इसलिये यह शंका करनेकी आवश्यकता नहीं कि घर चलेगा कैसे? एक बात और यह कि घर तो चलनेवाला है नहीं। यह छूटेगा चाहे आज छूटे या कुछ समय बाद तो हम अभिमान करके, पाप करके, द्वेष करके अपने साथ बुरे कर्मोंको क्यों ले जायँ। मरनेके बाद लोग इस घरको फेंक देंगे, जला देंगे इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। घर तो भगवान् चलाते हैं यह तो हमारा अभिमान है कि हम कहते हैं कि हमने किया। संसारका संचालन करनेवाले जो हैं वे अनादिकालसे कर रहे हैं, करते रहेंगे। हमें तो जगत्‌की सेवा करनी है, लोगोंसे प्रेम करना है—

तुलसी या संसार में सबसो मिलिए धाय।
ना जाने किस भेष में नारायन मिल जायँ॥

नारायण तो सबमें हैं न जाने कब, कहाँ प्रकट हो जायँ। पद्मपुराणमें एक कथा आती है कि एक ब्राह्मण जंगलमें तपस्या कर रहे थे। निरन्तर भगवान्‌का ध्यान करना और सभी जीवोंमें भगवान्‌को देखना ही उनका नित्य-प्रतिका कार्य था। वे सबेरे रोटी बनाकर रख दें और भूख लगनेपर खा लिया करें। कुछ दिन बाद उनकी रोटियाँ गायब होने लगीं तो एक दिन उन्होंने देखा कि एक चाण्डाल रोटियाँ लेकर जा रहा है। चूँकि वे सभी जीवोंमें भगवान्‌का रूप देखते थे तो उन्होंने सोचा—भगवान् तो रोटियाँ ले गये, परंतु उसमें घी तो लगा ही नहीं। वे चाण्डालके पीछे-पीछे दौड़े और बोले—महाराज! अभी घी नहीं लगा है, रुकिये, घी लगा दें रोटियोंमें। पास पहुँचनेपर उसी चाण्डालमें उन्हें भगवान् विष्णुके दर्शन हुए। भगवान् भावके भूखे हैं और अच्छा भाव तभी होगा जब हम अपने अंदर अच्छाई पैदा करेंगे। हम बदलेंगे, अच्छा बनेंगे तो हमें अच्छा ही प्राप्त होगा और दुनियामें अच्छाईके प्रसारमें हमारा योगदान होगा। अपने द्वारा लोगोंको सुख पहुँचायेंगे तो अपना उद्धार होगा और दूसरे भी उसी मार्गपर अग्रसर होंगे और यदि द्वेष किया, दम्भ किया तो अपना भी पतन होगा, दुःख पायेंगे और दूसरेको भी दुःख देंगे तथा भगवान्‌के भी अप्रिय होंगे। इसलिये सर्वत्र, सर्वदा, भलाईपर ही, परहितपर ही ध्यान रखना चाहिये।

******

अन्तरङ्गताका स्वरूप और साधना

भगवान् क्या हैं? इसका उत्तर भगवान् ही दे सकते हैं। अन्य जितने भी उत्तर हैं, वे सब महापुरुषोंकी साधना और अनुभवोंके उत्तर हैं। जिसने जैसा देखा या जिस मार्गसे जो गया उसने अपने मार्गका वर्णन किया, किंतु वे सभी सत्य हैं। हरिद्वारमें गङ्गाजीके दर्शन, स्नानहेतु कोई दक्षिणसे आया, कोई पूर्वसे आया, कोई पश्चिमसे तो कोई उत्तरसे आया। इसलिये सबके मार्गके अनुभव तथा मार्गके दृश्योंके वर्णन भिन्न होंगे। खान-

पानका भी विभेद होगा, हरिद्वारमें आनेपर हरकी पैड़ी एक मिल जायगी। सभी दिशाओंसे आनेवालोंकी चाह पूरी हो जायगी। भगवान्‌को अनिर्वचनीय और अचिन्त्य कहा जाता है अर्थात् उनका वर्णन नहीं हो सकता। उस तत्त्वको हम इस चित्त, बुद्धि और मनके द्वारा पूरा नहीं जान सकते। **'यतो वाचा निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।'** (तैत्तिरीयोपनिषद २। ९। १) अतः जिसका वर्णन हो ही नहीं सकता उसका नहीं हो सकता और जिसका हो सकता है, उसके विभिन्न अनुभव विभिन्न प्रकारके हो सकते हैं। इसलिये सभी ठीक हैं। किसीका विरोध नहीं है।

भगवान्‌को यदि कहें कि वे केवल सगुण हैं तब भी वे हमारी बुद्धिकी परिधिमें, सीमामें आ गये और हम कहें कि भगवान् केवल निर्गुण हैं तो सगुण कौन है? अगर हम कहें कि दोनों नहीं हैं तो तीसरे क्या हैं? अगर हम कहें कि वे दोनोंसे परे हैं तो ये दोनों कौन हैं? इसका उत्तर यही है कि भगवान् सगुण और निर्गुण दोनों हैं, दोनोंसे परे हैं, दोनोंके भीतर हैं, दोनोंके बाहर हैं। वे जो हैं, सो हैं, हम उन्हें नहीं जानते। साधकोंसे बार-बार यह विनय है कि वे सिद्धान्तके फेरमें न पड़ें। भगवान् क्या हैं? भगवान् कैसे हैं? यथार्थमें भगवान्‌का क्या स्वरूप है? यह भगवान् जब जनायेंगे, तब जाननेमें आयेगा—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(रामचरितमानस २/१२७/४)

भगवान्‌को जान गया तब तो उन्हींमें प्रविष्ट हो गया। **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'** तब बताये कौन और किसको? जबतक जाननेवाला रहा तबतक जाना नहीं। इसलिये उस अनिर्वचनीयका तत्त्व अनिर्वचनीय ही जानता है। साधकोंका काम है कि उसके भगवान् जैसे हैं वैसे ही उन्हें माने, दूसरोंके भगवान् कैसे हैं इसकी परवाह न करके उसके अपने भगवान् जैसे हैं वैसे ही उनपर विश्वास दृढ़ रखे।

शाङ्कर-सिद्धान्तके प्रख्यात पोषक और अनुयायी, 'अद्वैतसिद्धि' नामक उत्कृष्ट वेदान्त-ग्रन्थके रचयिता स्वामी श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने गीता-भाष्यके तेरहवें अध्यायके मङ्गलाचरणमें कहा है कि—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिःकिञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।

अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महोधावति॥

अर्थात् ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनसे योगी लोग यदि किसी (अनिर्वचनीय) निर्गुण, निष्क्रिय, परम ज्योतिका साक्षात्कार करते हैं तो किया करें—उनके साथ हमारा कोई विवाद नहीं है। हमारे लिये तो जो अलौकिक नीलवर्णकी ज्योति कालिन्दीके पुलिनोंमें दौड़ती रहती है, वही चिरकालतक नेत्रोंमें चमत्कार उत्पन्न करती रहे। बस, यही।

और कोई समझे तो समझे, हमको इतनी समझ भली।
ठाकुर नन्दकुमार हमारे, ठकुराइन वृषभानुलली॥

इससे परे जो कुछ है वह भी है, किसीसे विरोध नहीं। इसलिये प्रत्येक साधकका कर्तव्य है कि वह सिद्धान्तको लेकर लड़े नहीं। यदि कुछ लोग मुम्बईका मानचित्र रखकर स्थानविशेषके बारेमें जानकारी करने लगें तो उससे पूरी जानकारी नहीं हो सकती। संकेत होगा, अन्दाजा लगेगा। विवाद भी उत्पन्न होगा; क्योंकि मुम्बई कभी गये नहीं। मुम्बई चले जायँ तब पता लग जायगा कि अमुक स्थान कहाँ है और कैसा है। इसलिये जाना शुरू करें। यदि नक्शेको लेकर लड़ने लगे तो लड़ाई बढ़ जायगी। वहाँका नक्शा तो बदलेगा नहीं किंतु यहाँका नक्शा अवश्य बदल जायगा, हम अशान्त हो जायँगे। मत या सिद्धान्तकी बातें या तो आचार्योंका विषय है या लड़नेवालोंका अथवा विद्वानोंके विनोदका विषय है। साधकोंके लिये यह कर्तव्य, कामकी चीज नहीं है। उनके लिये यदि राम हैं तो फिर राम चाहे जैसे हों। एक बार किसीने तुलसीदासजीसे कहा कि आप जिस रामको भजते हैं वह तो बारह कला-अवतार है और श्रीकृष्ण तो सोलह कला-अवतार हैं। तुलसीदासजी हँसे और बोले—बारह कला-अवतार हैं! तब तो आपने बहुत बड़ा बता दिया। हम तो उनको राजकुमार मानकर भजते हैं और बारह कला-अवतार हैं तो और अच्छा। यहाँपर वे सोलह कलावालेकी बात नहीं करते। सोलह कलावाला हो या हजार कलावाला हो उससे मतलब नहीं। यहाँ तो बारह कला ही अधिक बता दिया। इस प्रकार कोई कुछ भी कहे, अपना इष्ट जैसा है, जो कुछ है, वही सर्वोत्तम है। उसीमें श्रद्धा-विश्वास रखकर व्यक्ति उसको लक्ष्य मानते हुए चलता रहेगा तो भगवान् उसको प्राप्त हो जायँगे। प्राप्त होनेपर ही पता लगेगा कि

भगवान् कैसे हैं। जबतक रंगमहलमें जाकर श्यामसुन्दरकी पूरी झाँकी नहीं देख लेते, तबतक क्या पता लगेगा कि वे कैसे हैं। तुम तो ऊपरकी पोशाक देखते हो। कभी उनकी पोशाक राजाकी होती है, कभी किसी औरकी हो जाती है। पोशाकके साथ-साथ उनके रूप-काम भी बदलते हैं।

सर गुरुदास बनर्जी, कलकत्ता हाईकोर्टमें जज थे। वे विद्वान्, वृद्ध ब्राह्मण गङ्गा-स्नानको जाया करते थे। गङ्गा नहाने जज नहीं जाता है, जज तो हाईकोर्ट जाता है। वहाँ तो ब्राह्मणदेवता सभक्ति गङ्गामें अवगाहन करने जाते हैं। एक शिवरात्रिके दिन लोटा हाथमें लिये, पीताम्बरी पहने, रामनामी ओढ़े, त्रिपुण्ड्र लगाये सर गुरुदास बनर्जी नहाकर लौट रहे थे। एक बुढ़िया ब्राह्मणीने देखा कि पण्डितजी महाराज गङ्गा नहाकर आ रहे हैं। आज शिवरात्रि है और मन्दिर पास ही है तो पण्डितजी पूजा करवा दें, ऐसा सोचकर उसने कहा—पण्डितजी! पण्डितजी!! जरा बात सुनो। बोले—क्या मैया! वह बोली—आज शिवरात्रि है, जरा चलके पूजा करवा दो। वे चले गये पूजा कराने। उस समय वे ब्राह्मण थे। उन्होंने विधिवत् पूजा करवा दी तो वह दो पैसे देने लगी। इसपर गुरुदासजीने कहा—'मैया, तुम्हारे आशीर्वादसे मेरे पास बहुत पैसे हैं। इसे ले लो।' बुढ़ियाने कहा—'तू करता क्या है?' बोले—'मैया! मैं हाईकोर्टमें नौकर हूँ।' फिर उसने कहा—'तू कोर्टवाला हाकिम है, तेरा नाम क्या है?' बोले—'गुरुदास बनर्जी।' बुढ़िया डर गयी, बोली—'हाय, गुरुदास बाबू हैं आप।' उन्होंने कहा—'नहीं मैया, मैं इस समय पण्डित हूँ, गुरुदास बनर्जी जज नहीं।'

इसी प्रकार भगवान्‌के भी अनेक रूप हैं—वे धनुर्धर भी हैं, वे वनवेषधारी भी हैं, वे दूल्हा भी हैं, राजा भी हैं, वे वृन्दावनके छैला भी हैं और कुरुक्षेत्रके सारथि तथा महाकाल भी हैं। वे जैसे है, जो कुछ हैं वह सब आपको बता देंगे जब आप उनके साथ घुल-मिल जायँगे, उनकी अन्तरङ्गता प्राप्त कर लेंगे। इसके लिये निष्ठावान्, श्रद्धावान् होना अत्यावश्यक है। आदर्श श्रद्धावान्‌के सम्बन्धमें सर गुरुदास बनर्जीके जीवनकी एक अन्य घटनाका उल्लेख समीचीन होगा।

एक दिन सर गुरुदास बनर्जी हाईकोर्टमें बहस सुन रहे थे। उस जमानेमें सभी बैरिस्टर अंग्रेज थे। किसी मुकदमेमें पक्ष-प्रतिपक्षकी दलीलें दी जा रही थीं। इतनेमें उन्होंने देखा एक बुढ़िया गंदे, भीगे कपड़े पहिने

कोर्टमें आयी। सिपाहीने जरा रोका उसे, पर इनकी नजर पड़ गयी। इन्होंने बहस सुनते-सुनते कोर्ट बंद कर दिया। सभी बड़े चकित हुए कि क्या हो गया? हाईकोर्टमें जजोंके आने-जानेका रास्ता पीछेसे होता है, परंतु वे कोर्ट बंद करके सामने, उसी जजकी पोशाकमें उस बुढ़ियाको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उसके चरणोंकी धूल लेकर सिरमें लगाया। सभी चकित हो गये—यह क्या है? सर गुरुदासजीके आँखोंमें आँसू आ गये। बुढ़िया तो गद्गद हो गयी और बोली—'बेटा गुरुआ! सुखी रह।' गुरुदासजीने बताया—यह मेरी धाय माँ है। इन्होंने मुझे पाला है। मुझे इनके आज दर्शन हो गये तो मैं इनके चरणोंमें गिर पड़ा। उनकी ऐसी श्रद्धा देखकर सभी लोग चकित हो गये। सर गुरुदास बनर्जी बहुत ही निष्ठावान् थे।

उनकी निष्ठाके बारेमें एक घटना प्रसिद्ध है कि एक बार वे लार्ड कर्जनके साथ कलकत्तासे दिल्ली जा रहे थे, स्पेशल ट्रेनसे। लार्ड कर्जन उस समय वायसराय थे और कलकत्तामें रहते थे। प्रयागसे कुछ पहले ही लार्ड कर्जनने सर गुरुदाससे पूछा कि आपने खाना खाया कि नहीं? उन्होंने कहा खाता कैसे, अभी स्नान नहीं किया। लार्ड कर्जनके पुनः कारण पूछनेपर इन्होंने कहा कि कहीं स्नानकी सुविधा होगी तो स्नान करके भोजन बनायेंगे, भगवान्‌को भोग लगायेंगे तब खायेंगे। सर गुरुदासके पुत्र भी साथमें थे। कर्जनने फिर पूछा कि आपके पुत्रोंने खाया कि नहीं तो उन्होंने कहा कि यह पूछनेकी कौन-सी बात है? मैं नहीं खाता तो मेरा बेटा कैसे खाता? कर्जनने उसी समय आज्ञा दी कि इलाहाबाद पहुँचनेपर जबतक सर गुरुदास खा-पीकर न लौटें तबतक ट्रेन वहीं रहे। गाड़ीका समय परिवर्तन कर दिया गया। सर गुरुदास उतरे, त्रिवेणी जाकर बाप-बेटेने स्नान किया, भोजन बनाया और भगवान्‌का भोग लगाकर खानेके पश्चात् लौटकर आये। आजके जमानेमें लोग सर गुरुदासको दकियानूसी कहें, परंतु लार्ड कर्जनने उनकी हँसी नहीं की बल्कि नोट लिखा और सर गुरुदासके निष्ठाकी प्रशंशा की। ऐसी निष्ठा होनी चाहिये।

अतः जिस प्रकार सर गुरुदास हाईकोर्टमें जज हैं, उस धायको प्रणाम करते हुए उसके बेटे हैं, ब्राह्मणीको शिवरात्रिकी पूजा कराते समय पण्डितजी हैं, इसी प्रकार भगवान् भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होते हैं+ किसी एक रूपको पकड़कर उसमें निष्ठा रखकर साधक बढ़ता रहे। यह चेष्टा,

चिन्ता न करे कि भगवान् कैसे हैं? क्योंकि बिना पहुँचे जानेंगे नहीं और जाननेके बाद सवाल रहेगा नहीं, साधनपथपर चलना शुरू कर दे और साध्यकी चिन्ता न करे। खेलनेवाले भगवान् हैं तो खेलनेवाले भगवान्, राजा हैं तो भगवान् राजा, भगवान् निर्गुण हैं तो निर्गुण, सगुण हैं तो सगुण। जिसके जैसे भगवान् हैं उसीको सर्वोपरि तत्त्व मानकर चलना शुरू कर दे। ज्यों-ज्यों निकट पहुँचेगा त्यों-त्यों अन्धकारका नाश होगा। उज्ज्वल ज्योति प्रकट होगी। भगवान्का अवयव स्पष्ट दीखने लगेगा। समीप पहुँच जानेपर भगवान् ठीकसे दीखेंगे और फिर भगवान् जना देंगे कि हम ऐसे हैं और जाना नहीं कि प्रवेश हो गया। '**विशते तदनन्तरम्**' (गीता १८। ५५)। इसलिये भगवान्को जाननेकी चिन्ता पहले न करके चलनेकी चिन्ता करे। साधक चलना शुरू कर दे, तत्पश्चात् वह अपने-आप पहुँच जायगा। हमलोग पहले लड़ने लगते हैं। निर्गुणवादी, सगुणवादी, साकारवादी, निराकारवादी आदिके चक्करमें पड़ जाते हैं। साधकोंको यह मानना चाहिये कि हमारे ही भगवान् अनन्त रूपोंमें, अनन्त नामोंमें सर्वत्र प्रकट हैं। जिस भगवान्को अन्य मानते हैं वह भी हमारे भगवान्का रूप है। भगवान् एक ही हैं। अगर भगवान् दस-बीस हो जायँ तो भगवान् कोई न रहे। यह मान लें कि 'राम', 'कृष्ण', 'शिव', 'देवी' तथा 'अल्लाह' आदि सभी भगवान् हैं। यदि अलग-अलग भगवान् हों तो सभी अल्प हो जायँगे और अल्पमें सुख ही नहीं होता तो फिर सच्चिदानन्दघन कहाँ रहें? '**नाल्पं सुखमस्ति**' भगवान् अल्प नहीं होते हैं। यदि यह माने कि इनके भगवान् नहीं हैं हमारेवाले ही भगवान् हैं तो हमारेवाले अल्प हो गये। क्योंकि हमारेवालेको और कोई नहीं मानता। इसलिये क्या माने? इसका सरल सीधा उत्तर है कि रामका उपासक माने कि बस, राम ही एकमात्र भगवान् हैं। रामहीको कोई कृष्णनामरूपसे, कोई ब्रह्मा, कोई विष्णु, कोई शिव, कोई दुर्गा, कोई गणेश, कोई सूर्य, कोई अल्लाह, कोई Almighty God(सर्वशक्तिमान् ईश्वर), कोई कुछ—विभिन्न नामों, रूपोंसे, कोई सगुण, कोई निर्गुणरूपमें पूजते हैं। बस, काम बन गया किसीसे झगड़ा नहीं होगा। अपने राहपर चलते चले जायँ भगवान् मिल जायँगे। अपना जो भी है वह बस, अपना है। इसके लिये मनमें संदेह न करें कि यह छोटे हैं किसी और बड़ेको पाना है, जो व्यक्ति यह सोचता है कि हम जिसको भजते हैं, वह अभी प्राथमिक स्तरकी बात है। ऊँचीवाली

दूसरी है। ऐसा सोचकर ऊँचीवालीके लिये यदि इसका त्याग कर देगा तो रह जायगा अधूरा। जिसको मान ले अन्तिमरूपसे मान ले कि यही वह परम साध्य है। पलटनेकी आवश्यकता नहीं है। उसीको पकड़े आगे बढ़ता जाय तो पार पहुँच जायँगे। पार पहुँचनेपर तत्त्वका स्वरूप पता चल जायगा और पार पहुँचेंगे ज्ञानोत्तर एवं पराभक्तिके द्वारा।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५४-५५)

अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्नमनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न ही किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है और उसके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ, जितना हूँ, जैसा भी हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

भगवान्‌को तत्त्वतः उनका अन्तरङ्ग प्रेमी ही जानता है। यहाँ ज्ञान और भक्तिका विरोध नहीं, बल्कि बड़ा सुन्दर सामञ्जस्य है। सीधी-सी बात है कि ज्ञान भक्तिका पूरक है; क्योंकि दोनोंका परिणाम एक है—जैसे यदि आपसे मेरा परिचय कुछ है ही नहीं या आपके सम्बन्धमें मेरी कुछ जानकारी ही नहीं तो आपके प्रति मेरा प्रेम भी नहीं होगा। किसी भी प्रकारका कोई परिचय होना ही चाहिये कि आप अमुक हैं, अमुक गुणवाले हैं। ज्ञान होनेपर प्रेम होगा और जब वह प्रेम अन्तरङ्गता ला देगा तब दोनों हृदयोंको उन्मुक्त कर देगा। यह बात सदा स्मरण रखनेकी है कि ज्ञानसे हृदय नहीं उन्मुक्त होता है। ज्ञानसे केवल जाना जाता है, परंतु हृदयमें क्या है? यह ज्ञानसे पता नहीं लगता। हृदय ज्ञानसे न खुलकर प्रेमसे खुलता है, प्रेम बढ़नेपर अन्तरङ्गता आती है और अन्तरङ्गता आनेपर दिलकी बात खुल जाती है। प्रजा राजाको उसके सम्राटत्वके कारण जानती है। वह यह तो जानती है कि राजा है, परंतु उसे यथार्थ रूपमें नहीं जानती। यथार्थतः वह जानता है जो अन्तरङ्ग होता है, उससे घुल-मिल जाता है।

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—राजन्! मैं उस महलमें जाकर आया हूँ। जहाँ प्रद्युम्न और अभिमन्यु भी नहीं जा सकते। मैंने भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको बात करते देखा है। इतना अन्तरङ्ग हूँ, यदि अन्तरङ्गता न होती तो संजय उस स्थानपर और उस अवस्थामें उन्हें नहीं देख पाते जहाँ किसीका प्रवेश ही नहीं है। परन्तु जब अन्तरंगता होती है तब अन्तरकी असली बात सामने आ जाती है और ऊपरी बात छिप जाती है—इस प्रकार अंदरका ज्ञान—'**यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः**' है। यह पहले नहीं होता। पहले होता है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' और '**भक्त्या मामभिजानाति**' उस भक्ति और प्रेमके द्वारा तात्त्विक ज्ञान होता है। भगवान्को किसने जाना? इस सम्बन्धमें आदिपुराणमें भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

अर्थात् हे अर्जुन! मेरा माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं और कोई नहीं जानता। तत्त्वतः शब्द यहाँ भी है और '**यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः**' में भी तो तत्त्वतः कौन जानता है? वही जो अन्तरङ्ग है, जिसके सामने भगवान्का हृदय उन्मुक्त है। ऊँचे सिद्धान्तकी बात कहीं भी कही जा सकती है, परंतु दिलकी बात सब जगह नहीं कही जाती। गीता (१८। ६३) में भगवान्ने सर्वोच्च ज्ञानकी बात कह दी और स्वयं अर्जुनसे कहा कि मैंने तुम्हें ज्ञानकी बात कह दी।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! मैंने जो गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान था वह तुमसे कहा है अब तुम अपनी जो इच्छा हो सो करो। इसमें ज्ञान तो कह दिया, परंतु इच्छा हो तो सो करो। यह कहनेका अर्थ होता है कि अन्तरङ्गता नहीं है। कुछ दूरी है। अर्जुन काँप गये और सोचा, इन्होंने कैसे कह दिया कि जो चाहे सो करो। मैं तो पहले ही कह चुका था—'**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (गीता २। ७) कि मैं आपके शरणमें आ गया हूँ, आपका शिष्य हूँ, रास्ता बतायें और आप कहते हैं कि जो चाहो सो करो। अर्जुन रो उठे, तब भगवान् द्रवित हो गये और बोले—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(गीता १८। ६४-६७)

अर्जुन! डरो मत, तुम मेरे प्यारे हो '**इष्टोऽसि मे दृढमिति**' तुम मेरे दृढप्रिय हो, मेरे इष्ट हो; इसलिये तुम्हारे हितके लिये मैं वह बात पुनः कहता हूँ। कौन-सी बात है? वह जो '**सर्वगुह्यतमम्**' है और '**परमं वचः**' है। श्रेष्ठ वचन है। भगवान्ने कहा कि मुझमें मन लगाओ, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, सब धर्मोंको छोड़ दो, एक मेरी ही शरणमें आ जाओ। क्या कोई भला आदमी सभामें बैठकर ज्ञानकी चर्चा करता हुआ यह कह सकता था कि सभी चीजोंको छोड़कर मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बन जाओ, मैं कहूँ सो करो।

ऐसा कहनेपर लोग क्या समझेंगे? जो अत्यन्त अन्तरङ्ग होते होंगे वह भी समझेंगे कि भाई, अगर ऐसी बात हो भी तो नहीं कहनी चाहिये। अपने मुँहसे सभी धर्मोंको छोड़कर अपनी शरणमें आनेकी बात भले आदमियोंकी बात नहीं है। परंतु '**सर्वगुह्यतमम्**' एक ही होगा; क्योंकि एक होता है गुह्य फिर गुह्यतर फिर गुह्यतम तब सर्वगुह्यतम।

इस प्रकार समस्त छिपी हुई चीजोंमें भी छिपी हुई चीज तब खुलती है, जब कोई प्यारा मिलता है—'**इष्टोऽसि मे दृढमिति**'। जिसके सामने कहनेमें संकोच नहीं होता है और जिसके सामने यह शंका नहीं होती है कि यह मनमें कोई दूसरा अर्थ लगा लेगा, तभी मनके अंदरकी—दिलकी बात खुलती है।

भगवान्ने कहा है कि मेरे मनोगत भावोंको तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं, अन्य कोई नहीं जानता। वैसे तो जानते हैं परंतु तत्त्वसे नहीं जानते। तत्त्वसे जानना तभी होता है, जब अन्तरङ्गता आती है। जब

गोपियोंकी भाँति सर्वसमर्पण हो जाता है। जब अपने सुखके लिये किसी वस्तुकी चाह-परवाह नहीं रहती है। भोग, मोक्ष दोनोंकी इच्छाका परित्याग करके जब साधक प्रेमी अपने-आपको भगवदिच्छामें मिला देता है। उनके सुखमें ही अपना सर्वस्व होम करके सुखी हो जाता है तब भगवान्‌की इच्छा, भगवान्‌के मनकी बात उसके सामने मूर्तिमान् हो जाती है।

भगवान् हमारी दी हुई प्रत्येक सेवा स्वीकार करते हैं—यह उनकी महत्ता है, परंतु असलमें वह क्या चाहते हैं, यह हम नहीं जानते हैं। भीष्मके शरशय्यापर पड़े रहनेपर उनको तकिया चाहिये—इस बातका संकेत अर्जुनको छोड़कर कोई समझा नहीं। यद्यपि वहाँ बड़े-बड़े योद्धा उपस्थित थे, केवल अर्जुनने समझा कि ये बाण मारकर तकिया देनेको कहते हैं। इस प्रकार सेव्य क्या सेवा चाहता है, उसको किस सेवासे प्रसन्नता है—इसको वही जान सकता है जो सेव्यके मनकी जानता है, उनका अन्तरङ्ग होता है। अन्तरङ्गताके लिये श्रद्धा आवश्यक है।

श्रद्धाका अब बड़ा विकृत रूप हो गया है जबकि इसका स्वरूप बड़ा सुन्दर है। श्रद्धाकी सुन्दर व्याख्या है। श्रद्धा कभी आँखवाली नहीं होती है। जहाँ आँख श्रद्धामें लग गयी, वहाँ श्रद्धा संदेहवती हो गयी। परंतु श्रद्धा मूर्खता भी नहीं होती है। इसीलिये कहा गया है कि अन्धश्रद्धा मत करो, श्रद्धा करो। जो श्रद्धा वास्तविक होती है वह अपने श्रद्धेयके स्वरूपको जना देती है। श्रद्धेयके रूपको श्रद्धा अपने-आप खोल देती है। श्रद्धामें यदि कोई दोष है तो वहाँ स्वार्थ होता है। स्वार्थ होनेपर श्रद्धामें विकृति आ जाती है अन्यथा विशुद्ध श्रद्धा दो काम साथ-साथ करती है—पहला तत्परता लाती है और दूसरा इन्द्रियोंका संयम बढ़ाती है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

भगवान्‌ने कहा कि यदि व्यक्ति श्रद्धावान् है तो तत्परता आनेपर अन्य विषयोंसे इन्द्रियोंका संवरण अपने-आप हो जायगा। इन्द्रियोंका संयम हो जायगा। यह तीनों चीजें जहाँ आयीं; वहाँ ज्ञान प्राप्त हो जायगा और ज्ञान मिलते ही शान्ति मिल जायगी। श्रद्धामें ठीक स्वरूपसाम्य है।

अन्तरङ्ग प्रेमियोंका स्वरूप यही है कि जो भगवान्‌का अन्तरङ्ग है, वही

भगवान्‌के अन्तरको जानता है और उसकी भी महिमा इतनी है कि—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भागवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(श्रीमद्भा० १। १८। १३)

अर्थात् भगवत्प्रेमीका लवमात्रका संग मिल जाय तो उसकी तुलना जगत्‌के भोगोंकी तो बात ही क्या, स्वर्ग और अपुनर्भव अर्थात् मोक्षसे भी नहीं होती है; क्योंकि मोक्षमें वह रस नहीं जो भगवत्प्रेमीके साथ भगवतरसालापमें है। भगवत्प्रेमी जिस प्रकारसे भगवान्‌के रसका अनुभव करता है; उसका जब कहीं किसीको उसकी वाणीद्वारा आस्वादन मिलता है तब उसके सामने मोक्ष लघु हो जाता है। कहते हैं—'**मोक्षलघुताकृत**' एक प्रेम ही होता है जहाँपर मोक्षमें लघुता आ जाती है, मोक्ष छोटा बन जाता है। सबसे बड़ी चीज है मोक्ष। मोक्षका तिरस्कार करना मूर्खोंका काम है। परंतु जिस प्रेममें मोक्षकी भी लघुता आ जाती है, वह प्रेम या तो विलक्षण प्रेम है अथवा महा अज्ञान है। जहाँ विषयोंका अत्यन्त महत्त्व होता है वहाँ अज्ञानवश मोक्षमें लघुता होती है अथवा परम प्रेम रसास्वादनमें मोक्षकी लघुता हो जाती है, जहाँ मोक्षकी बिलकुल परवाह नहीं रहती है। मोक्ष और भोग दोनोंको प्रेमी लोग एक समान कहते हैं। इसलिये एक लव मात्रका भगवत्प्रेमी संग एक तरफ और अपुर्नभव मोक्ष एक तरफ—तो कहते हैं उन दोनोंकी तुलना नहीं होती। उस मोक्षके लिये भगवत्प्रेमके लवमात्र संगको छोड़ना नहीं चाहता, नहीं छोड़ेगा। यह अन्तरंग प्रेमियोंका भाव होता है। अन्तरंग प्रेमी कहीं बाजारू चीज नहीं है।

न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः।

(श्रीदुर्गासप्तशती, देव्यापराधक्षमापनस्त्रोत्रम् ८)

श्रीशंकराचार्यजीने क्या मेल मिलाया है—वे कहते हैं न मुझे मोक्षकी इच्छा है, न वैभव की, न विज्ञानकी अपेक्षा है, न रमणसुखकी आकाङ्क्षा है। दोनोंको समानरूपमे ला दिया; क्योंकि उनके लिये दोनों समान हैं। जहाँ प्रेमका रसास्वादन है उस प्रेमके सामने कोई चीज नहीं। इस प्रेमका रसास्वादन अन्तरङ्ग-प्रेमी ही करता है।

वाग् गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

अर्थात् जिसकी वाणी गद्गद हो जाती है, हृदय द्रवित हो जाता है, जो बारम्बार ऊँचे स्वरसे नाम लेकर मुझे पुकारता है, कभी रोता है, कभी हँसता है और कभी लज्जा छोड़कर नाचता है, ऊँचे स्वरसे मेरा गुणगान करता है—ऐसा भक्तिमान् पुरुष अपनेको पवित्र करे, इसमें तो बात ही क्या है! वह अपने दर्शन और भाषणादिसे जगत्को पवित्र कर देता है। वहाँ रोनेका नाटक न हो और बीमारी या बुजदिली न हो, इनमें प्रेम नहीं होता है। जहाँ प्रेमका वास्तविक आवेश हो जाय, वह भगवान्को सारे जगत्में नचा देता है। त्रिभुवनको पावन कर देता है। चैतन्य महाप्रभुने ऐसा ही किया। वे जिस गलीसे निकले उसीको पावन कर दिया।

उनके गृहस्थ समयकी बात है। जिस जगह वे भगवन्नाम-संकीर्तन किया करते थे, उस मार्गसे पण्डितोंने लज्जावश जाना बंद कर दिया। उस मार्गसे निकलनेवाला बड़े-से-बड़ा विद्वान् पण्डित मधुर-संकीर्तनध्वनिको सुनकर सब कुछ भूल बैठता और नाचनेके लिये बाध्य हो जाता था। इस प्रकार जो सारे भुवनमें पवित्र भगवद्भावको फैलाकर जगत्को नचा दे, वह प्रेमी है और उसके प्रेमकी तो कोई तुलना ही नहीं होती है। लेकिन भगवत्प्रेममें जहाँ प्रेम वास्तविक होता है, वहाँ आँसू और बेआँसूका कोई मूल्य नहीं होता है।

आँसूमें भी बड़ा प्रेम होता है और जहाँ आँसू सूख जाते हैं वहाँ भी बड़ा प्रेम होता है। हृदय भगवान्के वियोगमें जलकर इतना खाक हो गया कि रस रहा ही नहीं। सारा रस भगवान्के रसके साथ मिल गया। यहाँका सारा रस वहाँ जा पहुँचा। प्रेममें यह भी एक स्तर होता है; जहाँ आँसू सूख जाते हैं और एक स्तर वह भी होता है; जहाँ आँसूकी नदी बह जाती है। सूरदासजीने कहा—

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हमपर जबतें स्याम सिधारे॥

* * *

आँसू सलिल भये पग थाके, बहै जात सित तारे।

(भजन-संग्रह १८९)

अर्थात् जबसे श्यामसुन्दर गये, हमारे नेत्रोंमें वर्षा-ऋतु ही आ गयी। पग थक गये हैं और आसुओंकी धारासे धुल-धुलकर काले तारे सफेद हो चले। इसलिये यह आसुँओंकी धारा भी प्रेमकी बात और आँसुओंका सूख जाना भी प्रेमकी बात, परंतु दोनो अवस्थामें एक बात समान रूपसे होती है कि अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के सुखके अतिरिक्त जीवनमें और कोई वस्तु रह ही नहीं जाती। यही अन्तरङ्ग-प्रेमीका जीवन है। वह किसीसे कहने नहीं जाता, प्रेमका ढिंढोरा नहीं पीटता। कहीं-कहीं अगर '**प्रकाशते क्वापि पात्रे**' (ना०भ०सू० ५३) स्वतः प्रकट हो जाय तो दूसरी बात है अन्यथा प्रेमी दुनियामें यदि कहता फिरे कि मैं प्रेमी हूँ तो यह प्रेमका उपहास होगा। प्रेमी तो कहना-सुनना जानता नहीं और कभी कहना आ जाय तो उसे पता भी नहीं लगता। सूरदासजीने गोपीकी भाषामें गाया कि—

अब तो प्रगट भई जग जानी।
वा मोहनसों प्रीति निरंतर, क्यों निबहैगी छानी॥

(भजन-संग्रह १९७)

जिस अवस्थामें प्रीतिका प्राकट्य हो जाता है, उसमें रोम-रोमसे प्रीतिका प्रवाह निकलकर अनेकानेक जगहमें छा जाता है। तब वहाँ प्रीति कैसे छिपायी जाय? कैसे रोके, वह प्रकट हो गयी, प्रकट की नहीं गयी। प्रेम प्रकट किया नहीं जाता, आँसू बनकर या आँसू सूखकर वह प्रकट हो जाता है। प्रेम कहीं बिलकुल मौन बना देता है, कहीं वाचाल बना देता है। प्रेमी कहीं भिक्षाटन करने चला जाता है और कहीं यह मानकर बैठ जाता है कि स्वयं श्यामसुन्दर आकर उसे खिलायेंगे। प्रेमकी ये अनोखी अवस्थाएँ हैं। परंतु प्रेम विज्ञापन या प्रचारका विषय नहीं है। इसमें किसी भी प्रकारका दिखावा या बाह्यप्रदर्शन नहीं है। लोगोंसे वाहवाही लूटनेकी तो इसमें कल्पना भी नहीं की जा सकती। कोई पागल कहे या विद्वान् उसे कोई आपत्ति नहीं। वह तो अपनी मस्तीमें मस्त रहता है। तुलसीदासजीने निम्नलिखित चौपाईमें प्रेमका सारा विज्ञानतत्त्व ही संकेतसे कह दिया है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

(रा०च०मा० ५। १५। ६-७)

भगवान्‌ने सीताजीको कहलवाया कि हे प्रिये! मेरे और तेरे प्रेमका

तत्त्व (रहस्य) केवल एक मेरा मन ही जानता है और वह मन सदा तेरे ही पास रहता है। बस, मेरे प्रेमका सार इतनेमें ही समझ लो।

यह प्रेमकी अन्तरङ्गता है। इसमें एक बात और होती है कि प्रेम लेना जानता ही नहीं है, प्रेम केवल देना जानता हे। जहाँ लेन-देन है, व्यापार है वहाँ प्रेम नहीं होता है। लेन-देन तो सेवामें भी नहीं रहता है। प्रह्लादने भगवान्‌को उलाहना दिया कि प्रभो! यह क्या लेने-देनेकी बात कर रहे हैं। जो सेवा करके कुछ ले लेता है वह तो वणिक् है, सेवक नहीं। वह सेवाकी नौकरी ले लेता है। जो थोड़ा बहुत देकर टरका दे वह मालिक है। आपका हमारा लेन-देनेका नाता नहीं है। मैं सेवक हूँ आप स्वामी हैं। इस प्रकार जब सेवक-स्वामीमें लेन-देन नहीं रहता तो प्रेमी-प्रेमास्पदमें प्रश्न ही नहीं है। इसीलिये प्रेमका जादू एक विलक्षण अवस्था है। प्रेमहीमें एक ऐसी अवस्था है जहाँ भगवान् माँगते हैं। भगवान्‌से हर कोई माँगता है और वे देते हैं। भगवान्‌से ज्ञानी मोक्ष माँगता है, निष्कामी होकर भी मोक्षकी कामना करता है। भक्त दर्शन चाहता है। सकामियोंकी बात ही क्या? योगी अपने हृदयमें ज्योतिको, प्रकाशपुञ्जको देखना चाहता है, परंतु प्रेमी कहता है 'लिये जाओ'। हम तो तुम्हें देनेके लिये ही प्रकट हुए हैं, लेनेके लिये नहीं। ऐसा हठी होता है प्रेमी। इसलिये भगवान् उसके परम पवित्र प्रेमके रसास्वादनके भूखे बन जाते हैं। सकाम बन जाते हैं, लोभी बन जाते हैं आप्तकाम, पूर्णकाम, नित्यकाम, अकाम भगवान् सकाम बन जाते हैं। सकाम बनकर जब यशोदा मैयाका स्तनपान करते हैं तो इनकी भूख कभी मिटती ही नहीं, लड़ाई हो जाती है। एक बार यशोदा मैया इन्हें बिना दूध पिलाये बाहर चली गयीं तो लगे मटके फोड़ने, ओठोंको दाँतसे काटने। भगवान्‌को गुस्सा आ गया। जहाँ काम होता है वहाँ गुस्सा आता ही है—**'कामात् क्रोधोऽभिजायते'** (गीता २। ६२) भगवान्‌में कामना हो गयी कि मैयाका दूध पीयें। मैया दूध पिलाती हैं उनको लेना कुछ है नहीं। इसलिये मैयाके दूधमें स्वाद आ गया और उसको पीनेके लिये भगवान् व्याकुल हो गये। सकामसे खेलनेके लिये आकुल हो उठे। सारा जगत् जिनका खेल, सारे जगत्‌के पदार्थ जिनका क्रीडा-कौतुक, जिनका काम ही है खेलना **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'** (ब्रह्मसूत्र २। १। ३३), वे खेलनेके लिये खुशामद करते हैं। सखाओंको मनाते हैं कि भइया! अब

नहीं करेंगे ऐसा, हमसे बड़ी गलती हो गयी। अब तुम खेलो मेरे साथ। गोपसुन्दरियोंके साथ भगवान्‌के लीला-नाट्यका अर्थ ही है—प्रेमका देना। यह भगवान्‌को बड़ा मीठा लगता है। जहाँ-जहाँ भी भगवान्‌ने प्रेम देखा, वहाँ-वहाँ प्रेमीके रसका रसास्वादन करने हेतु चले गये। शबरीकी कुटियामें जा पहुँचे। अन्यत्र चाहे जूठे न खायें हों पर वहाँ खाये। अगर कोई आदमी भगवान्‌को सुन्दर-स्वादिष्ट चीज देनेके लिये उसे चख ले, अपने रसास्वादनके लिये नहीं तो वह जूठा नहीं होता, परंतु भगवान्‌के भोग लगानेके पूर्व मन-ही-मन खाने लगे तो वह जूठा हो जाता है। इस प्रकार कहीं चख लेनेपर भी जूठा नहीं होता और कहीं बिना चखे ही जूठा हो जाता है। यह भावकी चीज है।

भावविह्वल प्रेमीके सामने भगवान् हाथ पसार देते हैं। उन्हें भूख लग जाती है और वे खाते हैं। भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

‘जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उसे मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।’ यहाँ किसी विधि-विधानका नाम नहीं लिया भगवान्‌ने। आसन रखे, **‘नैवेद्यं समर्पयामि’** बोले और पुरुष सूक्तका मंत्र बोले—ऐसा नहीं कहा। मैं इसका विरोध नहीं करता, यह सब होना चाहिये, सब ठीक है, शास्त्रकी सब बातें हैं, माननी चाहिये, परंतु यहाँ भगवान्‌ने केवल ‘भक्त्या’ कहा। दूध न सही जल ही दे दें, एक पत्र ही दे दें, कड़ुवा फल ही दे दें। हमारे रघु बाबा भगवान्‌को करेला खिलाते थे। कभी उनके मनमें आये तो तीन-तीन पाव करेला भगवान्‌को खिलाया करते थे। उनके भगवान् करेला खायें। वहाँ भगवान्‌के लिये केवल एक ही विधि है—प्रेमभाव। प्रेमसे सनी कोई भी वस्तु हो वह भगवान्‌को बड़ी मीठी लगती है। उसके लिये भगवान् तरस जाते हैं, उन्हें भूख लग जाती है और यदि प्रेम नहीं तो भगवान् कह देते हैं हमें भूख नहीं, हम नहीं खायेंगे। उन्होंने दुर्योधनके छप्पन प्रकारके भोगको ठुकरा दिया—

दुरयोधनके मेवा त्यागे, साग विदुर घर खाई।

यदि हमारे यहाँ अतिथि आयें और उनको सुखी करनेके लिये हम जो भी खायें उन्हें प्रेमपूर्वक, सादर खिला दें, भले ही सूखी रोटी हो तो अच्छा है, परंतु मिथ्याभिमानसे अपने स्तरका बेतुका प्रदर्शन करते हुए बढ़िया चीज भी खिलायेंगे तो अभिमानके नाते वह कभी-कभी खानेवालेको चुभ जाती है। अभिमानपूर्वक एक रोटीका टुकड़ा फेंक दे साथमें सोनेका पैसा भी रहे तो भी उसकी तुलना प्रेमभरी उस सूखी रोटीसे नहीं हो सकती, जिसमें अमृत होता है और खानेवालेके चित्तमें जाकर माधुर्य तथा अमृत पैदा करती है। **'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'** में यही भाव है।

भगवान्‌को जहाँ प्रेमपगे पदार्थ मिल जाते हैं वहाँ उनको भूख लग जाती है, हाथ फैला देते हैं। इसका बड़ा सुन्दर भाव है। भगवान् चाहते हैं कि उनका प्रेमी सुखी हो जाय और भक्त चाहता है कि इनके सुखके लिये ही हमें खाना खिलाना है। वह खिलाता है उनके सुखके लिये। कितना आनन्द है जब एक-दूसरेको सुखी करनेके लिये खायें, एक-दूसरेको सुखी करनेके लिये जियें, एक-दूसरेको सुखी करनेके लिये सोयें, हँसे या अन्य कार्य करें। जीवनमें एक ही प्रयोजन कि वे हमें सुखी करें, हम उन्हें सुखी करें। इसमें कितना आनन्द है, त्याग है, पग-पगपर अपनी इच्छा, आकाङ्क्षा और वासनाका त्याग है। **'तत्सुखसुखित्वम्'** (ना०भ०सू०/२४)अर्थात् प्रियतमके सुखसे ही सुखी होना। त्याग न हो तो सुखी होता ही नहीं। जिसके लिये प्रेमास्पदका सुख अपना सुख बन जाता है, उसकी इच्छा अपनी इच्छा बन जाती है और उसका भाव अपना भाव बन जाता है। वही अन्तरङ्ग प्रेमी है। यहाँ प्रश्न उठता है कि अन्तरङ्ग प्रेमी बननेका उपाय क्या है? उपाय सरल है। यदि हम किसीके भी अन्तरङ्ग बनना चाहते हैं तो उसके लिये त्याग करें। हम अन्तरङ्ग बन जायँगे। इसके लिये किसी शिक्षाकी आवश्यकता नहीं, खास श्लोकोंकी, खास दोहोंकी आवश्यकता नहीं है। केवल भावकी आवश्यकता है। हम किसीका अन्तरङ्ग बनना चाहते हैं तो उनके अन्तरमें प्रवेश करें। अन्तरमें प्रवेश करके उनकी इच्छाको जानें और उसके अनुरूप अपने जीवनको बना लें तो अन्तरङ्ग बन जायँगे स्वाभाविकरूपसे। किसीके पास रहकर अन्तरङ्ग नहीं बन सकते और दूर रहकर यदि हम उसका अनुसरण करें तो अन्तरङ्ग बन सकते हैं। समीप ही रहें और निरन्तर विरोध करते रहें, उसकी इच्छाके विरुद्ध

ही काम करें तो अन्तरङ्ग नहीं बन सकते। उसकी इच्छा और उसके मनका अनुसरण करनेपर वह भी वैसा ही करने लगता है। यदि हम भगवान्‌के बताये मार्गका अनुसरण करें तो भगवान् भी चाहते हैं कि इसके पीछे-पीछे मैं चलूँ—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

अर्थात् जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्‌के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ। भगवान्‌ने कहा कि ऐसे प्रेमियोंके पीछे-पीछे मैं नित्य चलता हूँ—'**अनुव्रजाम्यहं नित्यम्**' जो निरपेक्ष हैं, शान्त हैं और अकिंचन हैं। भगवान्‌का एक नाम अकिंचनवित्त भी है। कुन्तीने प्रार्थना कि—'**नमो अकिंचनवित्ताय**'। जिसके पास कुछ अपना है, उसके पास अपना वित्त है। जो अकिंचन है जिसके पास कुछ भी नहीं, जो अपना सर्वस्व तुम्हारा बना चुका हो उसके वित्त तुम हो। भगवान्‌ने कहा कि ऐसा जो मेरा प्रेमी है उसके चरणोंकी धूलसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं उसके पीछे-पीछे नित्य चलता रहता हूँ। यह पवित्र होनेकी बात नहीं भगवान् तो महान् पवित्र हैं। वह भगवान्‌का भक्त है—प्रेमी है, इसीलिये उसमें इतनी पवित्रता आयी है।

******

तन-मन-धन सौं कीजिये

तन-मन-धन सौं कीजिये निसिदिन पर उपकार।
यही सार नर देहमें, बाद-विवाद बिसार॥
तन-पबित्र सेवा किये, धन पबित्र कर दान।
मन पबित्र हरि-भजन कर, होत त्रिबिध कल्यान॥

(पद-रत्नाकर, पद सं० १४२१)

साधनाके विघ्न : भय और प्रलोभन

समस्त चराचर विश्वमें अनन्त प्राणियोंके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्के पावन चरणोंमें सभक्ति नमस्कार।

जिसको साध्यका पता नहीं है, साध्यकी ओर जिसकी दृष्टि नहीं है, वह साधक नहीं बन सकता। अपनेको जो एकान्तरूपसे प्राप्त करना है उसका नाम साध्य है और उसकी प्राप्तिके मार्गका नाम है साधना। अपने कार्यमें, अपनी साधनामें जो निरन्तर बिना किसी दूसरी ओर ताके-झाँके चलता रहता है वह साधक है। साधकको ये दो बातें हमेशा ध्यानमें रखनी चाहिये—पहली—लक्ष्यको भूलना नहीं है और दूसरी अत्यन्त आतुरता होनेपर भी, आर्तभाव होनेपर भी कभी ऊबना नहीं है। देर सहन नहीं होती है, परंतु देर होनेके डरसे साध्यको छोड़ देना बहुत बड़ी भूल होती है।

हरिबाबाने एक दृष्टान्त लिखा था कि मुहम्मद साहब एक बार घूमते-फिरते जंगलमें एक फकीरकी झोंपड़ीपर जा पहुँचे। उस समय फकीर वहाँ नहीं थे, उनका एक शिष्य था। वहाँ एक चट्टान थी। उस चट्टानमें तीन गहरे गड्ढे पड़े हुए थे। मुहम्मद साहबने उस शिष्यसे पूछा कि यहाँ चट्टानमें तीन गड्ढे कैसे पड़े हुए हैं? उसने बताया कि यहाँ फकीर महात्मा रोज बन्दगी करते हैं—नमाज पढ़ते हैं तो उनके सिरके और घुटनोंके टिकनेसे चट्टानमें तीन गहरे गड्ढे बन गये हैं।

इतनेमें आकाशवाणी हुई कि खुदा इसकी बन्दगीसे खुश नहीं है। यह सुनकर मुहम्मद साहब रोने लगे, उन्हें बड़ा दुःख हुआ। इतनेमें वे फकीर (महात्मा) आ गये। महात्मा महात्मा थे और ये थे आचार्य (prophet)। आचार्यके नाते महात्माने इनको प्रणाम किया और पूछा कि आप क्यों रो रहे हैं? मुहम्मद साहबने कहा कि यदि आपकी इस तरहकी बन्दगी खुदाको मंजूर नहीं है, इससे अगर खुदा खुश नहीं है तो मेरी क्या हालत होगी? मैं तो कुछ करता ही नहीं हूँ। मोहम्मद साहबकी इस बातको सुनकर फकीरको बड़ी खुशी हुई और उन्होंने पूछा कि क्या आपने खुदाकी वाणी सुनी है? क्या सचमुच उन्होंने कह दिया कि हम खुश नहीं हैं? मुहम्मद

साहब बोले कि हाँ कह तो दिया तभी तो मुझे रंज हो गयी। महात्मा बोले—बहुत अच्छा, खुदाको पता तो लग गया कि वह बन्दगी करता है। खुदा खुश हों या न हों। मुझे तो यह रगड़ लगानी है। खुदा चाहे न खुश हों उन्हें पता तो लग गया कि यह रगड़ लगा रहा है। बस, मेरा काम बन गया। इतनेमें ही दूसरी आकाशवाणी हुई कि हे फकीर! हम तेरी बन्दगीपर खुश हैं। इतनी ही देरमें क्यों खुश हो गये? इसलिये कि उन्होंने देखा कि इसमें इतना धैर्य है, इसके मनमें इतना विश्वास है कि खुदा या भगवान् चाहे बहुत दिनोंके बाद मिलें या न मिलें उनकी इच्छा है। परंतु मैं भगवान्‌की सेवा करनेसे, भक्ति करनेसे कभी चूकूँ नहीं। बस मेरा काम हो गया।

भगवान्‌ने गीता (६। २५) में कहा है—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

अर्थात् धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको आत्मामें लगाओ। दूसरे किसी भी चीजका चिन्तन मत करो। यदि बीचमें ही ऊब गये, यदि रास्तेमें ही विचलित होकर हट गये तो ठीक नहीं होगा। इसलिये साधकको धैर्यवान् और विश्वासी होना चाहिये। साधक केवल चलना जानता है। वह पल-पलमें पूछता नहीं कि अभी कितनी दूर है। वह दूरीसे घबड़ाता नहीं है।

प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर रहे हाहाकार।
गिना नहीं उसने पथकी दूरीको, भयको किसी प्रकार॥

(पद-रत्नाकर, पद सं० ४१७)

जबतक हमारे प्राणोंमें एक हाहाकार नहीं हो जाता, जबतक भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये साधकके हृदयमें एक संताप नहीं उठता, आग नहीं लग जाती तभीतक वह चारों ओर ताकता है। तभीतक आज कितनी माला फेर ली, आज कितना जप हो गया, दूसरे काम भी करने हैं, ये सब बातें रहती हैं। जब प्राण उसके लिये आकुल हो उठें, प्राणोंमें आर्तभाव छा गया तब चलनेपर वह नहीं देखता कि कितना चलना है। बस! चलना है। प्यारेके पथपर चलना है, प्रियतमके मार्गपर चलना है। वह यह नहीं देखता है कि मार्गमें कोमल पुष्प बिछे हैं या बरछियाँ बिछी हैं, मार्गमें

हर तरहके सुख-आराम हैं या केवल कष्ट-ही-कष्ट हैं। यह सुविधावाद साधनमें नहीं चलता है। सुविधावाद तो हमलोगोंके घूमने-फिरनेकी चीज है। यदि किसीको बदरिकाश्रम जाना है तो पहलेसे ही तैयारी कर ले। जहाँतक सवारीका साधन है वहाँतक सवारी अवश्य रहे और आगेके पड़ावोंपर भी आराम रहे। इसकी पहलेसे ही व्यवस्थाके चक्करमें रहे यह सुविधावाद है। सुविधावाद साधन नहीं है। सुविधा करके जाना भी एक विधा है, परंतु जहाँ सुविधा सामने है वहाँ साधन सामने नहीं रहता है। साधनमें तो कुछ भी मूल्य देना पड़े, उसका कोई मूल्य है ही नहीं। साधक यह बात जानता है कि भगवान्‌को प्राप्त करनेकी कीमत हमारे पास है ही क्या? वह तो स्वयं कृपा करके कभी दर्शन दे देते हैं। उन्हें प्राप्त करनेकी कीमत देकर हम उन्हें खरीद लें, ऐसी कोई कीमत हमारे पास नहीं है। हमारे पास है गंदा मन, गंदा शरीर, अनेक प्रकारकी बाधाओंसे भरा हुआ यह अपवित्र जीवन। हमारे पास अविचलित रहनेवाली बुद्धि नहीं है और न ही विशुद्ध मन। हम क्या देकर भगवान्‌को खरीदेंगे।

हाँ, हम भगवान्‌को देंगे अपना दैन्य, भगवान्‌को देंगे अपनी मजबूरी, भगवान्‌को देंगे अपनी गरीबी, भगवान्‌को देंगे अपनी अयोग्यता। परंतु भगवान् एक बात चाहेंगे कि तुम्हारी चाह है कि नहीं। तुम्हारे चाहकी आग वास्तवमें तुम्हारे हृदयमें लग गयी है कि नहीं। तुम घबड़ा तो नहीं रहे हो। तब भले ही अयोग्य हों भगवान् हाथ पकड़कर ले जायँगे।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

अर्थात् जो मेरेमें आवेशितचित्त हैं उन लोगोंको संसारसागरसे पार करनेवाला मैं होता हूँ तथा पार करनेमें देर नहीं होती **'नचिरात्पार्थ'** और हे अर्जुन! मैं अविलम्ब तुरंतउन्हें संसारसागरसे स्वयं पार कर देता हूँ, इस प्रकार भगवान् स्वयं पार करते हैं, परंतु जो अपनेको साधक मानता है उसके अंदर कम-से-कम इतनी बात होनी चाहिये कि वह उनकी चाह सच्ची हो, विशुद्ध हो, निष्कलंक हो और केवल उन्हींको चाहता हो।

अरबमें एक देवी हुई है रबिया। भगवान्‌का तय नहीं है कि अमुक जाति या अमुक देशवालेको ही मिलेंगे। भगवान् सबके हैं। यह अलग

बात है कि कहीं ज्यादा आदमी वैसे पैदा होते हैं और कहीं कम पैदा होते हैं। रबिया अरबमें पैदा हुई। रबियाने अपने प्रियतम प्रभुसे प्रार्थना की—'हे नाथ! यदि मैं स्वर्गकी इच्छासे आपको भजती हूँ तो स्वर्गका द्वार सदाके लिये मेरे लिये बंद कर दिया जाय और यदि मैं नरकके भयसे आपको भजती हूँ तो मुझे नरकमें भेज दिया जाय तथा यदि केवल आपके प्रेमके लिये आपको भजती हूँ तो आपका प्रेम मुझे मिल जाय।' इस प्रकारसे एक चाह, एक निष्ठा साधकमें होनी चाहिये। साधकके लिये यह सबसे पहली शर्त हे। साध्य सामने रहे और उसतक पहुँचनेकी एकमात्र चाह रहे उसके सिवाय कोई चाह नहीं रहनी चाहिये।

इस सम्बन्धमें भक्त ध्रुवकी कथा बहुत सुन्दर है। ध्रुव जब पाँच वर्षके बालक थे तब विमाताके सामने पिताकी गोदमें आ बैठा। छोटा बच्चा उसके मनमें भेदभाव था नहीं। उसने सोचा मेरे पिता हैं, छोटा भाई उत्तम बैठा था वह भी वहीं बैठ गया। विमाताके मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। उसने कहा बच्चा! तू बड़ा अबोध है। नीचे उतर जा। राजाकी गोदमें बैठनेका तेरा हक नहीं है। अगर इनकी गोदमें तुझे बैठना हो तो तुम मेरी कोखसे पैदा हो। भगवान्‌को याद कर जिससे तुम मेरी कोखसे पैदा हो तब तुम राजाकी गोदमें बैठ सकता है। उतर जा। अपमानभरे शब्दोंमें तिरस्कारपूर्वक कहा 'उतर जा'। ध्रुवके मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। वह राजाकी गोदसे उतरकर रोने लगा। पिताजी विवश थे इसलिये बोले नहीं। रोता हुआ बालक ध्रुव माँके पास पहुँचा। माँने कहा रोता क्यों है बेटा! तो ध्रुवने कहा पिताजीकी गोदमें बैठा तो छोटी माँने रोषपूर्वक उतार दिया और कहा भगवान्‌को याद कर अगर तू मेरी कोखसे पैदा हुआ होता तब इस गोदमें बैठनेलायक होता। माँके आँसू आ गये, कुछ बोल न सकी परंतु अन्ततः सच्ची बात मुँहसे निकल ही गयी। उन्होंने कहा—बेटा! माँने ठीक ही कहा है कि भगवान्‌को याद किये बिना, भगवानका भजन किये बिना तुम राजाकी गोदमें कैसे बैठ सकते हो। भगवान्‌को याद कर। माताने सहज भावसे ही यह सच्ची बात कह दी।

ध्रुवने कहा अच्छी बात माँ, मैं भगवान्‌को भजूँगा, परंतु बता माँ भगवान् कैसे हैं? पाँच वर्षका बच्चा जानता नहीं था कि भगवान् कैसे हैं, क्या हैं, उनका तत्त्व क्या है। माँ बोली—बेटा! एक बात याद रखना

भगवान्‌की आँखें कमलके पत्ते जैसी विशाल हैं। श्रीमद्भागवतमें **'पद्मपलाशलोचन'** (४। ८। २३) शब्द आता है। इतना सुनकर ध्रुवजी भगवान्‌के अनुसंधानमें चल दिये, माता गुरु हो गयी।

भगवान्‌के अनुसंधानमें चलनेवालोंसे दो बातें स्वाभाविक रूपसे छूट जाती हैं—१-भय और २-प्रलोभन। ये अगर बने रहते हैं तो चल नहीं पाते हैं, रुक जाते हैं। भगवान्‌के मार्गमें चलनेवालोंके सामने ये दो विघ्न आते हैं। ध्रुव निश्चयसे चले। माँ नहीं जानती थी कि मेरे इस प्रकार ही कहनेसे यह बच्चा चल देगा, परंतु उसके अंदर सच्ची लगन थी। क्षत्रिय बालक था, मनमें एक जोश आ गया बस, भगवान्‌को प्राप्त करना है। मार्गमें नारदजीने देखा और विचार किया कि अगर अधिकारी हो तो मन्त्र देना चाहिये। नारदजीका यही काम है। नारदजीने कहा—बेटा ध्रुव! कहाँ जा रहे हो? उसने कहा भगवान्‌से मिलने। नारदजीने फिर कहा—भगवान्‌से मिलने! जानते हो भगवान् कहाँ हैं? कैसे हैं? वह बोला कि माँने बताया है कि कमलके पत्ते-जैसे भगवान्‌के विशाल नेत्र हैं और वे मधुवनमें रहते हैं। मैं वहीं जा रहा हूँ। नारदजीने कहा कि क्यों जा रहे हो? तब ध्रुवने सारा वृत्तान्त बता दिया।

नारदजीने उसे समझाया कि बेटा! वापस चलो, मैं तुम्हारे पिताजीके पास चलता हूँ उनसे कहकर तुम्हें राज्य दिलवा देता हूँ। उसने कहा कि मुझे भगवान्‌से लेना है, आपसे नहीं लेना है। मुझे भगवान्‌से मिलना है। वह तनिक भी प्रलोभनमें नहीं आया। तब नारदजीने उसे भय दिखाया और कहा—बेटा! जंगलमें माँ नहीं होगी, अजगर होंगे, बाघ हैं, सुअर हैं, न जाने कितने जानवर हैं। भूत-प्रेत हैं। बड़ा बीहड़ वन है। खाने-पीनेको नहीं है। दुःख पाओगे, घबड़ाओगे, रोओगे, तब आओगे। उसने कहा यह सब कुछ नहीं, भगवान् तो हैं वहाँपर, मैं जाऊँगा। नारदजीने कहा कि एक बार फिर सोच लो। ध्रुवने कहा कि मैंने सोच लिया है। मैं अवश्य जाऊँगा। नारदजीने सोचा कि यह न भयमें आनेवाला है न प्रलोभनमें। यह सच्चा साधक है। उन्होंने कहा कि तुम जाकर द्वादशाक्षरमन्त्र **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** का जप करो। ध्रुवने ऐसा ही किया और उस छोटेसे बच्चेने छः माहमें ही भगवान्‌को पा लिया।

जो किसी प्रलोभनमें फँस जाय या किसी भयसे भीत हो जाय

वह गिर जाता है। पार्वतीजी जब तप कर रही थीं और भगवान् शिवके ध्यानमें मग्न थीं तो भगवान् शिवने सोचा कि पार्वतीके गौरवको प्रकट करना है। पार्वतीजीकी क्या परीक्षा? वे तो भगवान् शङ्करकी नित्य अर्धाङ्गिनी हैं। यह कथा विविध पुराणोंमें विविध भाँतिसे आती है और सभी कथाएँ बड़ी सुन्दर हैं, सुरम्य हैं। यहाँपर श्रीरामचरितमानसकी कथाका थोड़ा-सा अंश बतलाया जा रहा है—

जब पार्वतीजी तप कर रही थीं तो भगवान् शिवने सप्तर्षियोंको भेजा कि जाकर पार्वतीकी परीक्षा करो। वे पार्वतीके पास गये और उनके नेत्र खोलनेपर उन्होंने पूछा कि यह क्या कर रही हो? पार्वतीजीने उत्तर दिया कि महाराज! तप कर रही हूँ। उनके कारण पूछनेपर बोलीं—'महाराज! भगवान् शंकरको प्राप्त करनेके लिये। इतना सुनते ही सप्तर्षि एक साथ हँस पड़े। बुद्धिमान् किसीको देखकर हँसे तो इससे उसकी मूर्खता परिलक्षित होती है। सप्तर्षियोंने हँसते हुए कहा—पगली! तुम उससे विवाह करना चाहती हो जिसके घरमें कोई नहीं है। वह श्मशानमें रहे, वहाँकी भभूत शरीरमें लगाये, साँपोंकी गहने पहने, अजगरोंकी गलेमें माला पहने, मुण्डमाला पहने, बैलकी सवारी करे, नंगा रहे, पहननेको वस्त्र नहीं, इस प्रकारके एकाकी, धतूरा खानेवाले, भाँग पीनेवाले, कभी कालकूट पी लेनेवाले पुरुषको पति बनाकर क्या तुम सुखी होगी? तुम भी जड़ प्रतीत होती हो, पहाड़की बेटी हो न!

इस प्रकार उलाहना दिया और भय दिखाया। पार्वतीजी मुस्कराने लगीं और बोलीं—वाह! आपने भगवान् शंकरका बड़ा अच्छा रूप दिखाया। जो संसारके परित्यागी होते हैं, विरक्त होते हैं, जो वास्तवमें शिवस्वरूप होते हैं, जगत्से विरहित हो, जो स्वरूपमें स्थित होते हैं, वही तो ऐसे होते हैं। बड़ा सुन्दर है। वे मुस्कराकर रह गयीं। सप्तर्षियोंने देखा कि यह दाँव तो नहीं लगा, दूसरा अस्त्र फेंका। वे बोले—सुनो, पार्वती! हमने तुम्हारे लिये एक वर खोजा है जो बहुत ही ऐश्वर्यवान्, महान् सुन्दर है। वे सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य-निधि, सर्वसद्गुणसम्पन्न, अनन्त गुण-ऐश्वर्यके समुद्र, वैकुण्ठनाथ भगवान् विष्णु हैं। तब पार्वतीजीने कहा कि महाराज! विवाह करानेका आपलोगोंको शौक हो तो संसारमें वर-कन्या बहुत पड़े हैं। आप जाकर शादी कराओ, यही काम करो। महाराज! मैं क्या कहूँ आपसे, मेरे लिये तो—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

(रा०च०मा० १। ८०)

माना कि महादेवजी अवगुणोंके भवन हैं और विष्णु समस्त सद्‌गुणोंके धाम हैं, परंतु महाराज! जिसका मन जिसमें रम गया उसको तो उसीसे काम है।

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥

(रा०च०मा० १। ८१। ५)

मेरा तो करोड़ों जन्मोंतक यही हठ रहेगा कि या तो शिवजीको वरूँगी, नहीं तो कुमारी ही रहूँगी। सप्तर्षियोंने उनका अविचल विश्वास देख लिया तब बोले—बेटी! घबड़ाना नहीं, शिवजी आयेंगे। तुम तो शिवजीकी नित्य अर्धाङ्गिनी हो।

इस प्रकार साधकोंके सामने बहुत-से विघ्न आयेंगे प्रलोभनके रूपमें, मानके रूपमें। आप थोड़ा-सा भजन करने लगिये तो आस-पासवाले लोग, घरवाले कहेंगे कि बड़ा महात्मा है। बहुत-से भक्तलोग मिल जायँगे, चाहे वे जिस भावमें आयें—पूजने या पुजवानेके लिये। बहुत-से भक्त साधुओंके पास आते हैं, पुजवानेके लिये कि अपनी पूजाका कोई अच्छा-सा साधन बन जाय। अनगिनत रूपोंमें आयेंगे और आकर लगेंगे बड़ाई करने, मान देने, पूजा करने, फूल चढ़ाने, अगर कहीं इस प्रलोभनमें फँस गये तो च्युत हो गये। लोग धन लेकर आते हैं और आगे बढ़नेपर बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ आती हैं। देवता आते हैं वरण करनेके लिये, ऊपर चढ़ानेके लिये, इन्द्रपदका लालच देते हैं। भय भी बड़े-बड़े आते हैं। इसलिये साधक भय और प्रलोभन इन दोसे हमेशा बचे। अगर इनसे बचा रहेगा तो सफल हो जायगा। साधक भय और प्रलोभनसे बचते हुए एकनिष्ठ होकर, एक आदर्श साध्यका लक्ष्य रखकर चुपचाप बिना किसीपर आक्षेप किये अपने मार्गपर चलता रहे। सभी अपने-अपने मार्गपर जा रहे हैं। सभी भगवान्‌को चाहते हैं। किसीपर आक्षेप न करें।

हमारा मार्ग अच्छा और दूसरेका बुरा कहनेवाला साधक नहीं होता है। वह या तो साम्प्रदायिक आग्रहवाला होगा या तो आचार्य होगा। आचार्य सिद्ध होते हैं इसलिये वे कुछ भी कहनेके अधिकारी होते हैं। साधक

बेचारा तो मार्गपर चलनेवाला होता है, इसलिये वह कुछ कैसे कह दे। वह अभी पहुँचा नहीं है, सिद्ध तो पहुँच गये हैं। इसलिये वह कहता है कि तुम्हारे लिये वह ठीक, हमारे लिये यही भला। तुलसीदासजी कहते हैं—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोहिं तो सावनके अंधहि ज्यों, सूझत हरो-हरो॥

जिसको जिसपर भरोसा है वह करे। यदि आप पल-पलमें अपने इष्टके स्वरूपको—साधनको बदलते चले जाइये तो आगे बढ़ेंगे ही नहीं और यदि आप अपने सच्चे गुरु या आचार्यकी बातको मानकर आगे चलते चलिये तो आगे-से-आगे आपको मार्ग बतानेवाले मिलते जायँगे तथा आप भगवान्‌के धाममें पहुँच जायँगे। सफलता आकर आपके पैर चूमेगी परंतु यदि आप विचलित हो गये, भटक गये और नाना प्रकारके रसोंमें फँस गये तो गिर जायँगे। साधनाके मार्गमें बड़े-बड़े रस आते हैं। साधना करके देखिये। विघ्न केवल भयके रूपमें नहीं आते हैं बल्कि सुन्दर रूपोंमें भी आते हैं। कुछ अनुभवी पुरुषोंके ऐसे अनुभव हैं कि विभिन्न देवता या कुछ अन्तरिक्षचारी निम्न श्रेणीके देवता इष्टके वेशमें विघ्न करने आते हैं। प्रलोभन भी देते हैं। ध्रुवके सामने भी मायारूपी सुनीति माँ बनकर आयी और पुकारने लगी—बेटा! देख, मैं बहुत दुःखी हूँ। उन्हें विचलित करनेका प्रयास किया। यह कथा विष्णुपुराणमें आयी है। निम्नकोटिके उपदेवता साधनके मार्गमें विघ्न करने आते हैं।

अतः साधक कहीं भी बीचमें प्रलोभनमें न आये। वह इस भ्रममें न पड़े कि यह तो साधनाकी सिद्धि मिल रही है आगे अभी और मिलेगी। एक साधकने अपने अनुभवकी बातें, जरा बड़ाईमें आकर दूसरेसे कह दी कि आज हमें यह अनुभव हुआ। इससे उनका अनुभव होना बंद हो गया। उसने लगातार नौ महीनेतक चेष्टा की तब कहीं उसे फिरसे अनुभूति होने लगी। इतना अन्तराल हो गया। इसलिये अपने साधनकी बातें गुप्त रखे, उसे बड़ाईके लिये दूसरेके सामने प्रकट न करे। यह विघ्न आता है। बड़ाईकी चाह पैदा हो जाती है, मान देनेवाले, प्रलोभन देनेवाले मिल जाते हैं।

इसी प्रकार भय भी आते हैं। उग्र देवताकी उपासनामें अधिक आते हैं। सौम्य देवताकी उपासनामें भी भय आते हैं। केवल सकाम साधनामें ही नहीं निष्काममें भी आते हैं, भले ही साधकको हिला-हिलाकर पक्का

करनेके लिये आते हों या अपनी ओर खींचनेके लिये आते हों। परंतु उसके जीवनमें जिस प्रकारकी बातें आती हैं, उसको सुदृढ़ बनानेवाली होती हैं। उसके सामने सिद्धियाँ आती हैं कि तुम मुझे ग्रहण करो। परंतु भगवान्‌ने तो प्रेमी साधकोंके लिये कहा है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

अर्थात् मेरी सेवाको छोड़कर मेरे जो जन हैं वे सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य—ये पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ दिये जानेपर भी नहीं लेते हैं। '**दीयमानं न गृह्णन्ति**' देनेपर भी नहीं लेते हैं, माँगते तो हैं ही नहीं। वे समझते हैं कि अगर हमने इन मुक्तियोंको ले लिया तो हमारी सेवामें बाधा आ जायगी। कहीं मुक्ति ले ली तो सेवाधिकार छिन जायगा। इसलिये अपने सेवाधिकारका परित्याग न करके इस प्रलोभनसे अपने आपको बचाये रखते हैं।

यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि जो भगवान्‌के अनन्य प्रेमी हैं, जो भगवान्‌में अत्यन्त प्रीतमान हैं उन लोगोंकी जगत्‌में कहीं आसक्ति तो है ही नहीं। उनके जगत्‌के बन्धन तो कट चुके हैं। उनका बन्धन तो केवल है भगवच्चरणोंमें आसक्तिका और यह बन्धन यदि वह काटना चाहता है तो वह प्रेमी नहीं है, भक्त ही नहीं है। इसलिये इस बन्धनको वह बन्धन मानता ही नहीं है। यह बन्धन तो उसका जीवन है। यह बन्धन उसका स्वरूप है। यह बन्धन उसका स्वभाव है। इस बन्धनमें रहनेके लिये बड़ी-से-बड़ी प्रलोभनकी चीजें उसके सामने आती हैं। बड़े-बड़े भय उसके सामने आते हैं परंतु वह कहीं भी विचलित नहीं होता।

दूसरी बात जो आजकलके युगमें ज्यादा आती है वह यह कि अगर कोई महात्मा है तो उसका प्रयास यह होता है कि उसके सम्बन्धमें जगत्‌को जानकारी हो। स्वाभाविक एक बहुत अच्छी बात उठती है कि आप घरमें महात्मा हैं तो उससे जगत्‌को क्या लाभ होगा? जगत्‌को लाभ पहुँचे इसके लिये आप जरा सामने आयें। आप अपना प्रचार कीजिये। यह साधककी बात कह रहा हूँ, सिद्धोंकी बात नहीं कर रहा हूँ। सिद्ध क्या करते हैं, वे जानें। साधक और सिद्धोंके भी कुछ आदर्श समाजके

सामने होने चाहिये। सिद्ध यदि गिर जाय तो साधक तो गिरे हुए हैं ही। भगवान्‌ने कहा है—**'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि'** (गीता ३। २२) अर्थात् मुझे कुछ पाना नहीं है फिर भी मैं कर्म करता हूँ। क्यों करता हूँ? **'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्'** (गीता ३। २४) यदि न करूँ तो मेरी देखा-देखी लोग अच्छे कर्मोंको करना छोड़ दें और स्वच्छन्द हो जायँ यह बहुत बुरी चीज है। साधकके सामने आता है कि जगत्‌के हितके लिये आप सामने आओ अर्थात् अपना प्रचार करो। तब वह भूलसे छिपी वासनाको लेकर या अच्छी नीयतसे इसे स्वीकार कर लेता है। जब वह इस भावनासे कि जगत्‌को लाभ होना चाहिये इसको स्वीकार करता है वहीं, उसके हृदयमें चुपकेसे एक अहंकार आ जाता है कि हम जगत्‌को लाभ करनेवाले हैं। एक अभिमानकी रेखा मनमें आ गयी। उसके बाद लोग कहते हैं कि आपके जीवनकी बातोंसे लोगोंको परिचित होना चाहिये। जिससे जीवनी आती है। तदुपरान्त यह होता है कि आपकी मूर्ति स्थापित होनी चाहिये, जिससे लोग उसे देख-देखकर पवित्र हों। फिर मूर्ति भी स्थापित हो गयी। प्रचार नाम और रूपका होता है जिसमें भाव रहता है कि हमारा नाम इतिहासमें रहेगा एवं लोग इस मूर्तिको देख-देखकर लाभान्वित होंगे। अब प्रश्न उठता है कि क्या वह नाम और रूप हम हैं? यह तो बिलकुल सीधे-सीधे अपने अज्ञानकी घोषणा है। माँके पेटमें जब हम थे तब हमारा नाम नहीं था। नाम जन्म होनेके बाद रखा गया। एक नाम अच्छा नहीं लगा तो दूसरा रख लिया। वह भी अच्छा नहीं लगा तो तीसरा रख लिया। हम सभी जानते हैं कि यह शरीर माँके पेटमें रज और वीर्यके मिलनसे निर्मित हुआ है तथा शरीर राख बन जायगा या कीड़े बन जायँगे अथवा कोई खा जायगा तब यह मलमें बदल जायगा। हम शरीरके पहले थे। हम नामसे पहले थे। हम शरीरके बाद भी रहेंगे और नामके बाद भी रहेंगे। इस प्रकार नाम और शरीर हम नहीं हैं, परंतु हम चाहते हैं कि हमारे नामका नाम हो। हमारा नाम इतिहासमें रहे और हमारी मूर्तिकी पूजा लोग करते रहें। इस तस्वीरको लोग देखते रहें। यह अज्ञान है। जो शरीरको और नामको आत्मा मानता है वह अज्ञानी है। बहुत-से लोगोंको हमने देखा है जो प्रचारकी दूकान खोलकर बैठे हैं। इसमें कौन जानता है कि उनके अन्दर मान और प्रशंसाकी

इच्छा नहीं है। एक अन्तर्यामी ही जानते हैं, दूसरा नहीं। इस प्रचारमें मान और प्रशंसाकी कामना न होना आश्चर्य है, होना कोई आश्चर्य नहीं। साधक जहाँ इनके प्रलोभनमें आया, जहाँ उसके मनमें मान-बड़ाईकी इच्छा पैदा हुई, वहाँ वह साधनसे गिर जाता है। उसे तो चुपचाप आगे बढ़ना चाहिये। कोई न जाने तो बहुत अच्छा है। उलटा जाने तो और अच्छा, हालाँकि ऐसा करना नहीं चाहिये। परंतु इसपर एक दृष्टान्त है। रवीन्द्रनाथ ठाकुरने बंगलामें एक सुन्दर खण्डकाव्य लिखा है कबीरपर। उसके अनुसार कबीरदासजी मगहरमें रहते थे और वहाँके बाजारमें कपड़ा बेचने आते थे। उनका बड़ा नाम हो गया था कि बहुत बड़े महात्मा हैं, इसलिये उनकी कुटियापर भीड़ होने लगी। उनकी साधनामें विघ्न पड़ने लगा। उन्हें अपने भगवान्से एकान्तमें बात करनेका समय ही नहीं मिलता। एक दिन उन्होंने मन-ही-मन अपने भगवान्से प्रार्थना की कि महाराज! मुझे आप बचाइये। मैं तो दिन-रात भीड़में फँसा रहता हूँ, कब मैं आपसे मिलूँ, कब आपसे एकान्तमें बात करूँ। भगवान्ने उनकी प्रार्थना सुन ली। कुछ लोगोंने षडयन्त्र रचा और उसमें यह तय हुआ कि एक वेश्याको राजी किया जाय और वह वेश्या बीच बाजारमें कबीरको जलील करे। यह व्यवस्था हो जानेपर जब कबीर कपड़ा बेचने बाजारमें आये तो उसने आकर कबीरका पल्ला पकड़ लिया। जिन लोगोंने साजिश रची थी वे पहलेसे ही खड़े थे। वेश्याने कहा कि नालायक! तुमने इतने दिनोंतक मुझे रखा और इस हालतमें मुझे छोड़ दिया। सिखायी हुई दो-चार बातें और कहीं। कबीर हँस पड़े और मन-ही-मन सोचने लगे कि भगवान्ने मेरी प्रार्थना सुन ली। वहाँ एकत्रित सभी लोग हँस पड़े और बोले—देखो महात्माको। इनका यह रूप है। अब इनकी पोल खुल गयी। सभी ताली पीटने लगे और उपहास करने लगे। जो वहाँ कबीरके भक्त थे, उन्हें भी शरम आयी। कोई उसमें शामिल हो गये और कोई भाग गये। कबीरका कोई साथी नहीं रहा। बाजारमें कबीरको नमस्कार करनेवाले सभी हट गये। वे अकेले रह गये, बाकी सब हँसनेवाले। कबीरने वेश्यासे कहा—हाँ, ठीक तो है। मुझसे बड़ी भूल हुई, तू मेरे साथ चल। इसपर सब लोगोंको विश्वास हो गया और बोले कि देखा सच्ची बात न होती तो ये विरोध करते, इनकार करते, साथ न ले जाते। वे उसे अपने साथ कुटियापर ले गये और एक माला देकर बोले—बेटी!

माला फेर बैठी-बैठी। दूसरे दिन महात्माके संगसे उसके मनमें चैतन्य आया कि राम-राम इतना बड़ा पाप किया। ये इतने बड़े विशुद्ध फकीर, जिनके मनमें कोई वासना नहीं आयी और मैंने उनपर कलंक लगा दिया। उसने कबीरको प्रणाम किया और कहा—महाराज! मुझे क्षमा करो। मैं बहुत बड़ी अपराधिनी हूँ, पापिनी हूँ। मुझे आज्ञा दो, मैं जाऊँ। कबीरने कहा कि तुम तो भगवान्‌की भेजी हुई मेरी रक्षाकवच हो। मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगा। तुम यहीं रहो और नाम जपो। वह नाम जपने लगी। उसका हृदय विशुद्ध हो गया। उस समय तार आदि थे नहीं। इसलिये यह खबर दूरतक नहीं फैली। मगहरमें फैल गयी, परंतु बनारसतक नहीं पहुँची। इसी समय काशीनरेशने कबीरको बुलानेके लिये अपने मन्त्रियोंको भेजा। वे जब आये तो कबीरने कहा! हम नहीं जायँगे। देख लो, हमारी तो यह हालत है। मन्त्रियोंने कहा कि आप नहीं जायँगे तो महाराज नाराज होंगे। इसपर कबीर मान गये लेकिन कहा कि जायँगे तो इसे साथ ले जायँगे। इसपर वे तैयार हो गये। तब उस वेश्याको साथ लेकर संत कबीर काशी पहुँचे। रास्तेमें लोग कबीरको देखने आते तो साथमें वेश्याको देखकर हट जाते। इससे कबीरने सोचा कि देखो पिण्ड छूट रहा है नहीं तो यह भी रास्तेमें साथ लग जाते। कबीर काशीनरेशके दरबारमें पहुँचे। दरबार लगा हुआ था। कबीरको आते देख नरेशसे, लोगोंने पहले ही कह दिया था कि उनके साथ एक स्त्री आयेगी। महाराज चौकन्ने थे ही। उनके साथ एक नवयुवती सुन्दर तरुणीको देखकर राजाने इशारेसे कहा—इन्हें दरबारसे निकाल दो। कबीर बाहर निकलकर राजमार्गपर आ गये। वेश्याके मनमें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने सोचा कि राजमान्य कबीर जिनके चरणोंमें राजाओंके मुकुट पड़ते, उन कबीरको इस प्रकार अपमानित कराकर मैंने निकलवाया है। मेरे जीवनको धिक्कार है। वह उनके चरणोंमें पड़ गयी और कहा—महाराज! मुझे क्षमा करो। मैं नहीं रहूँगी। उन्होंने कहा तू अगर नहीं रहती तो मेरी रक्षा क्या यहाँ होती? तूने मुझे बचाया, माँ! तू मेरी माँ है। तू मेरी रक्षा करनेवाली देवी है। तू मेरे लिये भगवान्‌का भेजा हुआ उपहार है। ऐसा आदर्श हो। इस प्रकारसे साधकको करना नहीं है। ऐसा करनेपर कमजोर लोग गिर सकते हैं। यह कबीरके स्तरकी बात है। इसकी नकल हम नहीं कर सकते हैं।

इसलिये साधनामें अगर कहीं बड़ाई मिलती हो, मान मिलता हो

तो मनुष्यको चौकन्ना हो जाना चाहिये अन्यथा यह बड़ाई खा जायगी, यह मान खा जायगा। यह मेरी साधनाको और मुझे गिरा देगा। यह मुझे अपने मार्गपर रहने नहीं देगा। इसलिये मान और बड़ाई इन दोसे बिलकुल बचा रहे। ये जहाँ-जहाँ आयें वहाँ-वहाँसे हट जाय, भाग जाय, वैसे तो ऐसी कार्यवाही करनेकी बात नहीं है। हम कर नहीं सकते, परंतु यदि निर्दोषरूपसे वहाँसे हट सकें तो बड़ी कार्यवाही करनेमें भी आपत्ति नहीं है।

काशीमें एक ब्रह्मानन्द नामक महात्मा थे। वे बड़े विनम्र थे। उनके पास बहुत लोग जायँ और यदि वे बेचारे साधना करने बैठे हों तो लोग उन्हें छेड़ें। कोई कुछ करे, कोई कुछ करे। वे बोले नहीं। नहीं बोलें तो लोगोंकी उद्दण्डता और बढ़ी। एक दिन उनके एक गुरुभाई आये, सब देखा। वे उनसे बोले तू मूर्ख है। आनेवालोंपर गुस्सा खूब जोरसे कर। उन्होंने कहा कि मुझे गुस्सा होना आता ही नहीं है। तब गुरुभाईने कहा कि ठीक है, मैं बैठता हूँ और वे पासमें बैठ गये। गुरुभाईने जहाँ दो-चारको डाँटा तो लोगोंने कहा कि वहाँ न जाओ। वहाँ तो एक बड़ा क्रोधी साधु आ गया है। लोगोंका वहाँपर आना बंद हो गया। यद्यपि क्रोध नहीं करना चाहिये। मैं क्रोधका समर्थन नहीं करता हूँ, परंतु यदि क्रोध बाड़के रूपमें हो तो अनुचित नहीं है। बगीचेकी रक्षा करनेके लिये यदि काँटोंकी बाड़ लगायी जाय तो उसमें आपत्ति नहीं है। काँटे बिछाये जायँ तब तो सारी आपत्ति है, परंतु बगीचेके सुन्दर फलों और पुष्पोंकी रक्षाके लिये अगर काँटेकी बाड़ लगाना आवश्यक है तो यह बाड़ अधर्म नहीं है, बुरी चीज नहीं है। इसलिये कहा है कि जितने दुर्गुण हैं इन सबको भी यदि अपनी रक्षाके रूपमें रख ले तो आपत्ति नहीं है, बच जाओगे। साधक उसे अपनी साधनाके साधनकी रक्षाहेतु प्रयोग करे। किसी भी प्रकारसे हजार-हजार कष्ट सह करके साधनाकी रक्षा करे। कहा गया है कि—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(भतृहरि नीतिशतक)

अर्थात् जो धीर पुरुष हैं वे अपने न्यायके मार्गसे एक पग भी

विचलित नहीं होते हैं भले ही नीतिनिपुण लोग निन्दा करें या स्तुति करें। लक्ष्मी देवी आ जायँ या सदाके लिये चली जायँ। मृत्यु आज आ जाय या युगोंके बाद आये। धीर पुरुष न्यायका मार्ग नहीं छोड़ते हैं, वे अपने मार्गपर निरन्तर अविचलित भावसे कायम रहते हैं। वे अपने मार्गको छोड़ना जानते ही नहीं हैं। रविन्द्रनाथ ठाकुरने एक गीत लिखा है—एकला चलो! एकला चलो!! एकला चलो रे!!! उन्होंने कहा कोई साथी नहीं है। सबने साथ छोड़ दिया। अकेले ही चलो। भगवान् साथ हैं। उनके मार्गपर जा रहे हैं। वे साथ हैं। हे भगवान्! जिसका कोई नहीं होता है, उसके तुम होते हो। जहाँ दूसरेकी सहायता मिलती रहती है वहाँ भगवान्‌की सहायताकी अपेक्षा नहीं होती है पर जिसके कोई नहीं होता है, उसके तुम होते हो।

सुनी री मैंने निरबल के बल राम।
जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बल राम पुकार्‌यो आये आधे नाम॥

गजराज—मत्त गजराज, यूथपति गजराज हजारों हाथी और हथिनियाँ उसके दलमें, मतवाला, सरोवरमें आकर नहाने लगा। ग्राहने पैर पकड़ा और अंदर खींचने लगा। गजराजने सोचा यह क्या है? मेरे दलके सामने इस ग्राहका कौन-सा बल? अभी झटका देकर बाहर निकाल दूँगा। बाहर खींचा, परंतु खींच न सका। हाथियोंसे कहा लगाओ जोर। हाथियोंने पूँछ और सूँड़का गठबन्धन करके, जैसे इंजनमें गाड़ीके डिब्बे लग जाते हैं, इसी प्रकार सूँड़से पूँछ और पूँछसे सूँड़ पकड़कर हजारों हाथियोंकी कतार लगायी। सब लगे बाहर खींचने, परंतु भगवान्‌की लीला? वे सब नहीं खींच पाये बल्कि अंदर खिंचने लगे। तब सबने बुद्धिमानीसे कहा या संसारके स्वरूप—'स्वार्थ' को प्रकट किया कि इसे तो मरना है, सब साथ क्यों मरें? यह मनुष्यकी बुद्धिमानी या मनुष्यका स्वार्थ। भगवान् जाने क्या बात है। सबने छोड़ दिया। **'जब लगि गज बल अपनो बरत्यो'** जबतक अपने साथियोंका बल देखा तो प्रयास किया और जब देखा हाथियोंने छोड़ दिया, हथिनियोंने छोड़ दिया, कोई साथी नहीं, कोई अवलम्ब नहीं—अब तो डूबना ही है। तब **'निरबल ह्वै बल राम पुकार्‌यो'** कहा—'हे नारायण! नारायण शब्द पूरा नहीं निकला। **'आये आधे नाम'**। यह आता है श्रीमद्भागवतमें कि भगवान् गरुड़पर आते हुए दीखे। गजराजने उन्हें अर्पित करनेके लिये

सूँड़में कमल उठाया। वे वहीं आविर्भूत हो गये, गरुड़से नहीं उतरे। अर्थात् जिस गतिसे गरुड़ आ रहा था, वह गति भी भगवान्‌को रुचिकर नहीं। देर कर रहा है। अपने-आप भगवान् प्रकट हो गये, आविर्भूत हो गये। कब? जब एक भगवान्‌को पुकारा और दूसरे सबकी आशा छोड़ दिया।

इसी प्रकार द्रौपदीका दृष्टान्त है कि '**द्रुपदसुता निरबल भइ ता दिन, तजि आये निज धाम**' दुष्ट दु:शासन जब राजरानी द्रौपदीके केशोंको पकड़े हुए राजदरबारमें ले आया। पाण्डवोंने सिर नीचा कर लिया और चुप होकर बैठ गये। भीष्मकी मति मारी गयी थी। उन्होंने कह दिया बेटी! मुझे पता नहीं कि तुम हारी गयी या नहीं। युधिष्ठिरसे पूछो। धृतराष्ट्र अन्धा था, बड़ी धर्मकी बातें कहता था। चुप हो गया। बेटोंकी बुरी बातें सुनता रहा। दुर्योधनका एक भाई था, केवल उसने कहा अन्याय हो रहा है। कर्णने उसका कान पकड़कर बैठा दिया। कोई बोलनेवाला नहीं। अंदर एक सिपाहीको द्रौपदीको लानेके लिये भेजा गया। गान्धारीने कहा—खबरदार! हाथ लगाओगे तो ----। वह लौट आया। दुर्योधनने कहा—दु:शासन! तुम जाओ। उस वेश्याको नंगी करके ले आओ। वह पाँच पतिवाली है। पाण्डवोंके वदनमें आग लग गयी, परंतु बन्धनमें थे इसलिये बोले नहीं। उस समय द्रौपदी एकवस्त्रा थी, रजस्वला थी, उसके केश खुले थे। दु:शासनने माँकी बात नहीं सुनी और उसके केश पकड़कर खींच लाया। जरा सोचिये, क्या दुर्दशा उस समय द्रौपदीकी हुई होगी? जरा उसके मनपर जाइये। द्रौपदीकी मन:स्थितिका ध्यान कीजिये। वह राजरानी '**असूर्यपश्या**' जिसको कोई देख नहीं सकता था, जो पैदल भी चलती नहीं थी, उस एकवस्त्रा द्रौपदीको पकड़कर दस हजार हाथियोंके बलवाला दुष्ट दु:शासन सभामें ले आया है और दुर्योधनने कहा है इसे नंगी कर दो, मेरी जाँघपर बैठा दो। क्या दशा? कोई बोलनेवाला नहीं है। द्रौपदीने चारों ओर देखा। कोई नहीं बोला। वह हार गयी। तब कहा—हे नारायण! हे श्रीकृष्ण! हे श्यामसुन्दर! श्रीद्वारिकावासिन! हे गोपीजन प्रिय!

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।

(महा०सभा० ६८। ४१-४२)

प्रभो! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूब गयी। मुझे तुम उबारो। तुम्हारे सिवाय कोई उबारनेवाला नहीं है। एकवस्त्रा द्रौपदी निराश होकर इस प्रकारसे भगवान्‌को पुकार उठी। भगवान् आ गये। किस रूपमें आये? बिलकुल नये रूपमें। भगवान्‌का कहीं ऐसा अवतार नहीं हुआ। भगवान् रजस्वला द्रौपदीकी साड़ी बन गये। **'बसन रूप भये स्याम'**, **'दु:शासन की भुजा थकित भइ बसन रूप भए स्याम, सुनी री मैंने निरबलके बल राम।'** दस हजार हाथियोंके बलवाला दु:शासन साड़ी खींचने लगा। साड़ीका तो कुछ पता ही नहीं कि कितनी लम्बी है। राजदरबारमें साड़ीका ढेर लग गया। दु:शासन पसीने-पसीने हो गया। उसकी भुजाएँ थक गयीं। **'दु:शासनकी भुजा थकित भइ' 'दस हजार गज-बल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर।'** दस हाथ कपड़ा अनन्त हो गया। उसमें अनन्त आ विराजे। दु:शासन हार गया। उसका दम फूलने लगा और द्रौपदीकी साड़ी छोड़ श्वास लेने, दम मारने बैठ गया। क्यों? वह कपड़ा अनन्त हो गया। उसमें अनन्त आ विराजे न! यह तब हुआ जब मात्र एक भगवान्‌का सहारा रहा।

इसलिये साधक एकको देखे। देर नहीं होगी। एक भगवान्‌की ओर देखे। एक साधनामें लगा रहे। एक लक्ष्यपर स्थिर रहे। एक मन्त्र जपता रहे तथा विश्वास रखे कि भगवान् मेरे हैं और हैं। संदेह न करे। किसी प्रकारकी मनमें दुविधा न रखे। तब भगवान् कह देंगे—मैं तेरा, मैं तेरा। यह करके देख लीजिये आप। भगवान्‌ने द्रौपदीसे कहा कि तुम मेरी सखी हो। तुम देखोगी कि इन कौरवोंकी स्त्रियोंकी क्या गति होती है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा तुम मेरे हो। भगवान् आज भी वही हैं। भगवान्‌की मति आज भी वही है। भगवान्‌की प्रीति आज भी वही है। भगवान्‌के भाव आज भी वही है। भगवान्‌में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अगर हम आज द्रौपदी, ध्रुव, विभीषण या प्रह्लाद बन जायँ तो हमारे साथ वही चीज होगी जो उनके साथ हो चुकी है। इस युगमें भी हुई है और आज भी हो सकती है। बस! हमें बनना है।

अत: साधकको विश्वासपूर्वक, अपने लक्ष्यपर ध्यान रखते हुए, अपने मार्गपर बिना किसी तरफ ताके, बिना किसीका खण्डन-मण्डन किये, बिना किसीकी आलोचना किये, बिना और बात सुने और कहे, बस, जैसे पतिव्रता स्त्री केवल अपने पतिको जानती है उसके लिये जगत्‌में और

कोई है ही नहीं, उसी प्रकारसे अपने भगवान्को जानकर, मानकर साधक निरन्तर भगवान्की ओर चलता रहे। चूकेगा तो भगवान् सँभालेंगे, गिरेगा तो भगवान् उठायेंगे। यद्यपि वह गिरेगा नहीं, परंतु कहीं गिरने लगे तो भगवान् उठा लेंगे। मार्ग भूलेगा तो रास्ता बतानेवाले बन जायँगे। विल्वमंगलकी तरह हाथ पकड़कर अपने धाममें ले जायँगे। इसलिये विश्वास कीजिये और भगवान्के मार्गमें लगिये।

******

साधनकी उपयोगी बातें

समस्त विश्व चराचरके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्के पावन चरण-कमलोंमें सभक्ति नमस्कार।

मनुष्यको सहज ही जैसा दूसरोंको उपदेश देनेमें सुख मिलता है, वैसा उपदेश लेनेमें नहीं मिलता। यदि उपदेश देनेवाले लोग अपने उपदेशको स्वयं पहले ग्रहण करने लगें तो बहुत उपदेशोंकी आवश्यकता न रहे। उपदेश क्रियामें नहीं आते जबतक, जीवनमें नहीं उतर आते; तबतक चाहे वे किताबोंमें रहें, चाहे वाणीके शब्दोंमें रहें, उनसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। थोड़ी बात भी जीवनमें उतर जाय तो बहुत सुननेकी और कहनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

यद्यपि अच्छी चीजका कहना-सुनना अच्छा है। दूसरी ओर अशुभके कहने-सुननेमें मन न लगे और अच्छा कहने-सुननेके लिये मन लगता रहे अथवा बुरेके लिये अवकाश न मिले, अच्छेसे फुरसत न मिले तो इसमें लाभकी बात तो अवश्य है; परंतु वास्तविक लाभ तबतक नहीं है, जबतक जीवनमें वह चीज उतर न जाय। इसलिये प्राचीन कालकी गुरु-परम्परामें विशेष उपदेशोंकी आवश्यकता नहीं थी। गुरुने उसके लायक चुपकेसे एक साधन बता दिया और वह शिष्य अपने साधनपर संलग्न हो गया। उसको करनेमें तत्पर हो गया। राह चलने लगा। जो चलेगा वह पहुँच जायगा, पर जो चलेगा नहीं केवल बात करेगा, बात सुनेगा तो जैसे बिना खाये पेट नहीं भरता इसी प्रकार बिना किये कोई सफलता नहीं मिलती। साधनकी

सफलताके लिये साधन करना आवश्यक है। हम जो कुछ भी अच्छी बात सुनें, समझें, कहें—वह बात हमारे जीवनमें उतर जानी चाहिये।

युधिष्ठिर छोटे बच्चे थे तो पाठशालामें पढ़ते थे। गुरुजीने कहा कि देखो, कोई मार भी दे तो गुस्सा न आये यह बात सीख लो। विद्यार्थियोंसे पूछा—क्यों सीख लिया? वे बोले—हाँ, सीख लिया कि कोई मार भी दे तो गुस्सा न आये। यह सीख लिया। दस-पाँच दिनतक पूछते रहे कि सबने सीख लिया? युधिष्ठिर रोज कहते रहे कि नहीं सीखा। दो-तीन सप्ताहके बाद युधिष्ठिरसे फिर पूछा—क्यों सीख गये? वे बोले—नहीं सीखा। गुरुजीको गुस्सा आ गया। छोटी-सी बात सब तो सीख गये और यह नहीं सीख पाया। गुरुजीने गुस्सेमें आकर दो-चार बेंत लगा दी। बोले—अब सीख लिया? उन्होंने कहा कि हाँ, अब सीख गया। बोले—बेंत लगाया तब सीखा, वैसे नहीं सीखा। इसपर युधिष्ठिर बोले—गुरुजी! बात यही है। आपने कहा था कि कोई मारे तो गुस्सा नहीं आये। आजतक तो किसीने मारा नहीं, फिर गुस्सा आनेकी परीक्षा कैसे होती? सीखता कैसे? आज आपके मारनेपर मैंने अपने मनमें देखा तब पता लगा कि गुस्सा नहीं आया। इसलिये आज सीख गया। बस, इसी प्रकारसे जीवनमें बात उतर जाये।

हम रोज-रोज एक ही बात सुनते हैं, बहुत कहते भी हैं; क्योंकि नयी बात आयेगी कहाँसे? उन्हीं बातोंको घुमा-फिराकर हजार बार भले ही कह दें। कहनेका नया तरीका भले ही अपना लें, बातें तो वही रहेंगी। 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है' इस बातको हजार बार कह दें, चाहे किसी रूपमें कह दें। 'सर्वत्र भगवान्-ही-भगवान् हैं'—इसे किसी रूपमें कह दें। 'भगवान्से प्रेम करना चाहिये'—इसे किसी रूपमें कह दें। बात तो इतनी ही है। इन्हीं बातोंका विस्तार अनेक रूपोंमें हो सकता है। परंतु इन बातोंको अपने जीवनमें उतारनेके लिये युक्तिवादकी जरूरत नहीं होती।

महाभारतमें एक घटना आती है कि एक बार किसी ब्राह्मणकी गायको डाकूलोग चुरा ले गये। रातका समय था। ब्राह्मणने आकर पुकार की कि मेरी गाय डाकू ले गये। अर्जुनने पुकार सुनी। अर्जुनके धनुष-बाण अन्तःपुरमें रखे थे और अन्तःपुरमें उस दिन युधिष्ठिर महाराज थे। द्रौपदीके पाँच पति थे। भगवान् व्यासने यह नियम बना दिया था कि जो भाई अन्तःपुरमें रहे उसके अतिरिक्त दूसरा भाई उन दिनों अन्तःपुरमें न

जाय, अगर चला जाय तो उसको बारह वर्षका देश-निकाला हो। धनुषबाण थे अन्त:पुरमें तो अर्जुनने सोचा कि अब सामने दो बातें हैं। एक ओर बारह वर्षका देश-निकाला है और दूसरी ओर है राजधर्मका पालन—ब्राह्मणकी गायोंको बचाकर लाना। उन्होंने देश निकाला स्वीकार किया। नीची नजर किये अन्त:पुरमें गये। वहाँसे धनुष-बाण लिया और गायोंको छुड़ाकर ले आये। ब्राह्मणके गायोंकी रक्षा हो गयी।

युधिष्ठिरको यह घटना मालूम नहीं थी; क्योंकि वे सो रहे थे। दूसरे दिन अर्जुनने सभामें आकर बड़े भाई युधिष्ठिरजीसे कहा—महाराज! मुझे बारह वर्षका देश निकाला मिलना चाहिये। युधिष्ठिरने कहा—कैसे? तुमने क्या कसूर किया? अपराध क्या हुआ? अर्जुन बोले—अपराध यह हुआ कि मैं रातको नियम-भंग करके अन्त:पुरमें गया था; क्योंकि वहाँसे धनुष-बाण निकालने थे और ब्राह्मणके गौओंकी रक्षा करनी थी। इसपर धर्मराजने कहा—इसमें तो कोई ऐसी बात हुई नहीं। प्रथम तो मैं बड़ा भाई और बड़े भाईके घरमें जाना कोई दोष नहीं तथा दूसरी बात तुम मेरी धर्मरक्षाके लिये गये थे। गायोंकी रक्षा करनी थी, तुमने अच्छा काम किया। तुम्हारा कोई दोष नहीं। धर्मराजकी इस बातको सुनकर अर्जुनने कहा कि महाराज! मैंने आपसे यही सीखा है कि किसी बहानेसे धर्मका लोप न करो। किसी युक्तिवादसे कोई युक्ति लगाकर बहाना बनाकर अपने दोषका समर्थन न करो। मैं युक्तिवादसे दोषका समर्थन करना नहीं चाहता। इस घटनाका तात्पर्य यही है कि जो धर्मसंगत बात हो वह जीवनमें उतर जाय। जबतक जीवनमें साधना नहीं उतरती, जबतक जीवनमें उपदेशकी बातें नहीं उतरती, तबतक उपदेशकका उपदेश व्यर्थ होता है।

उपदेशकमें चार प्रधान बातें होनी चाहिये। वह जिस सिद्धान्तको कहता हो वह सिद्धान्त सच्चा हो, एक बात। दूसरी बात, उस सिद्धान्तका वह स्वयं माननेवाला हो। एक दिन एक सज्जन हमारे पास आये। संन्यासी थे, बड़े विद्वान् थे। उन्होंने कहा कि बोलिये किस विषयपर कहना है। ईश्वरका खण्डन करें कि मण्डन। आप जो कहें सो कर देंगे, हमारे पास विद्या है। विद्यासे खण्डन भी कर देंगे, मण्डन भी कर देंगे। हमने कहा सिद्धान्त कौन-सा है? बोले—सिद्धान्त कोई नहीं। सिद्धान्त हमारी विद्या है। यह ठीक नहीं है। जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करे, वह सिद्धान्त वास्तवमें

सत्य हो। दूसरी बात, वह स्वयं उस सिद्धान्तको माननेवाला हो।

तीसरी बात है कि केवल माननेवाला ही न हो, उस बातका पालन करनेवाला भी हो और चौथी बात है—उन उपदेशोंमें—सिद्धान्तके वर्णनमें किसी प्रकारका—मान, धन इत्यादिका स्वार्थ न हो। ये चार बात उपदेशकमें होनी चाहिये तब उसका उपदेश अपने-आप ग्रहीत होता है। उसे देखकर लोग उसकी बात मान लेते हैं। उपदेश देना पेशा नहीं होता। आजकल तो उपदेशका प्रवाह बह रहा है, उपदेशकी नदी बह रही है, नदी ही तो है, कभी कैसा पानी, कभी कैसा पानी और उसमें यह चीज भी है कि कभी कोई बड़ा महात्मा भी बोले और कोई कलाकार भी बोले। सदाचारी भी बोले, असदाचारी भी बोले। बोलना आना चाहिये। बोलनेकी कला होनी चाहिये, फिर बोलनेवाला कोई हो और जिसके पास कला न हो और महात्मा हो तो उसकी बात कोई सुनना नहीं चाहता; क्योंकि हमलोग तो कला देखते हैं। पहले हमने देखा यहाँ इन झाड़ियोंमें एक महात्मा रहते थे, उनसे कोई व्याख्यान दिलवाये तो उनको तो बोलना नहीं आता, पर उनके एक-एक शब्दमें तत्त्व भरा रहता, उनके जीवनका अनुभव भरा रहता।

जहाँ हम केवल बोलते हैं और करते नहीं वहाँ हमारा बोलना एक नाट्य होता है। जैसे नाटकमें कोई शंकराचार्यका अभिनय करे तो वह शंकराचार्य नहीं हो जाता, उसी प्रकारसे यदि हम केवल बोलना जानते हैं, करना नहीं जानते तथा बोलना जानते वैसा बनना नहीं जानते तो हमारा बोलना एक कला हो सकती है, हमारा बोलना लोक रिझानेकी चीज हो सकती है, हमारा बोलना हमारी बोलनेकी वासनाकी पूर्ति हो सकती है, जैसे—प्यास होती है, वैसे ही बुलास (बोलनेकी वासना) भी होती है। वासनाकी पूर्ति भले हो जाय या उससे हमारी किसी लौकिक कामनाकी पूर्ति हो जाय अथवा कौतूहलके लिये उक्ति हो जाय या उस कलाका प्रदर्शन हो जाय, परंतु जबतक हमारे जीवनमें वह बात नहीं है तबतक हम वह बात बोलनेके अधिकारी नहीं हैं।

पहले हमारे यहाँ बड़ी सुन्दर चीज थी अधिकारी-भेद। किस विषयपर कौन-कौन बोलनेका अधिकारी है। यदि गुरुके पास शिष्य जाता तो गुरु शिष्यको देखते कि शिष्य अधिकारी है कि नहीं, इसी प्रकार गुरु अगर

उस विषयके अधिकारी नहीं होते तो वह कह देते कि भई, इस विषयको मैं नहीं जानता। तुम अमुक ऋषिके पास जाओ, अमुक महात्माके पास जाओ, वह तुम्हें इसका उपदेश देंगे। इस प्रकार बता देते, स्वयं अपनेको अधिकारी नहीं मानते। तब सुननेवाला और कहनेवाला एक ही बातमें कह देता और एक ही बातमें सुननेवालेका काम भी बन जाता। आज हम पचास बात सुनते रहें और एक भी बात धारण न करें तो काम नहीं बनता। पहले कहने और सुननेके अधिकारी होते थे। बिना अधिकारीके काम नहीं बनता, कम-से-कम इस साधनाके क्षेत्रमें—परमार्थ-साधनाके क्षेत्रमें तो अधिकारी-भेदकी बड़ी भारी आवश्यकता होती है। किस प्रकारका कौन अधिकारी है। नाम-संकीर्तन यह सबके अधिकारकी चीज है, परंतु नाम-संकीर्तनमें भी जहाँ परम प्रेमका उद्भव होता है, वहाँ अधिकार आ जाता है।

चैतन्य महाप्रभुके विषयमें आता है कि श्रीवासके घरमें उनका अन्तरंग कीर्तन होता था। कीर्तन एक तो सामूहिकरूपसे बाहर होता है और एक अन्तरंग कीर्तन होता है, जिसमें प्रेमीगण प्रेमरसमें उन्मत्त होकर झूमते हुए अपने-आपको भूलकर कीर्तनमें मस्त हो जाते हैं, ऐसा ही कीर्तन था महाप्रभुजीका। एक दिन एक कीर्तन विरोधी मनुष्य उनके घरमें घुस गया और जाकर तख्तेके नीचे छिप गया। उस दिन कीर्तनमें वैसा प्रेमरसका उद्भव नहीं हुआ। तब महाप्रभु चैतन्यने कहा कि कोई विजातीय तत्त्व है यहाँपर। देखा गया तो तख्तेके नीचे एक आदमी लेटा हुआ था। पता लग गया कौन है? वही कीर्तनका विरोधी व्यक्ति वहाँ था। उस व्यक्तिको तो लाभ मिला कीर्तन-श्रवणका। उसकी बुद्धि सुधर गयी। लेकिन जबतक उसको बाहर नहीं किया गया तबतक प्रेमरस उत्पन्न नहीं हुआ।

साधना खेल नहीं है। एक आसन हो, एक स्थान हो, एक मन्त्र हो, एक गुरु हो, एक इष्ट हो, एक समय हो तो साधनाका इस प्रकारका एक वातावरण बन जाता है कि वहाँ जाते ही वह बात अपने-आप शुरू हो जाती है। वहाँके वायुमण्डलमें उस प्रकारके तत्त्व सब ओर इस प्रकार विस्तृत हो जाते हैं, पूर्ण हो जाते हैं कि दूसरे तत्त्वोंको वहाँ आनेका स्थान नहीं मिलता। पहले ये सब साधनोंके तरीके थे। साधना बाजारकी चीज नहीं। साधना दूकानपर नहीं मिलती, बिकती नहीं। जबसे यह बिकने लगी और जबसे बाजारमें आयी तबसे साधना रही नहीं। सच्ची बात, कटु जरूर

है पर यह है सत्य।

साधनामें क्या चीज है? चीज यही है कि साधनको अपने जीवनमें उतार लेना। ऐसा ही बन जाना। महाराज खट्वाङ्गके दृष्टान्तमें आता है कि उन्होंने तो मुहूर्त (दो घड़ी) मात्रमें भगवान्‌को पा लिया। [*मुहूर्तं प्राप्य जीवितम्* *(विष्णु० ४। ४। ८२)* ***मुहूर्तमायुर्ज्ञात्वैत्य स्वयुरं संदधे मनः॥*** *(श्रीमद्भा० ९। ९। ४२)*] कितनी देर लगती है ब्रह्मकी प्राप्तिमें। कुछ भी देर नहीं लगती। जैसे घोड़ेपर सवार होकर कोई आदमी उसके पाँवड़ेमें पैर रखे, इतनी देरमें मिलन हो जाता है। कैसे हो जाता है? गुरुजीने बताया—‘**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**’—‘यह सारा ब्रह्म है’ बस, इस बातपर विश्वास कर लिया। विश्वास करते ही अनुभूति हो गयी। क्या देर लगी। केवल विश्वासकी बात है।

एक बार व्यासजी महाराजने शुकदेवजीको उपदेश दिया, किंतु उनकी समझमें वह बात नहीं आयी तो पिताने कहा कि तुम महाराज जनकके पास जाओ, वे उपदेश देंगे। शुकदेवजी जनकके द्वारपर पहुँचे। जनकजी जान गये थे कि शुकदेव आ रहे हैं। उन्होंने बाहर पहरेदारोंको पहले ही खबर करवा दी कि उन्हें अंदर मत आने देना। शुकदेवमुनि द्वारपर आ गये और अंदर जाने लगे तो पहरेदारोंने कहा—महाराज! रुकिये, अंदर जानेकी आज्ञा नहीं है। शुकदेवजी खड़े हो गये। न स्वागत किया, न सत्कार किया और न आसन दिया गया। गुप्तचर देखते रहे कि इनके मुखकी आकृति कैसी बनती है। आकृतिविज्ञानवालोंने देखा कि मुख जैसा-का-तैसा है। कोई भी विकारका भाव नहीं है। महलमें निर्विकारताकी खबर दी गयी। इसपर जनकजीने कहा—अच्छा, अब उनको ऐसे विलासकाननमें भेज दो, जहाँ विलासकी सारी सामग्री और सारे-के-सारे विलासके साधन मौजूद हों। ऐसा ही किया गया। जहाँपर विकार पैदा करनेवाली सारी सामग्रियाँ उपस्थित थीं, जहाँपर इन्द्रियोंके सारे विषय विद्यमान थे, ऐसे स्थानपर उन्हें भेज दिया गया। वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित पचास तरुणी स्त्रियोंको उनकी सेवामें लगा दिया गया। शुकदेवजी तो गर्भज्ञानी थे। जो बाहर थे, वही अंदर रहे। कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जैसे-के-तैसे रहे।

महलमें महाराजके पास खबर पहुँची कि वे तो जैसे बाहर हैं वैसे ही अंदर भी हैं। जनकजीने कहा—अब उन्हें ससम्मान यहाँ ले आइये।

जब वे पहुँचे तो जनक महाराज स्वयं आदरपूर्वक उन्हें ले गये। महलमें ले जाकर योग्य आसन दिया, स्थान दिया, पूजाकी, अर्घ्य दिया और पूछा— महाराज! कैसे पधारे? शुकदेवजीने कहा—पिताजीने आज्ञा दी है। आपके पास बोध प्राप्त करने आया हूँ। शुकदेवकी तो परीक्षा हो चुकी थी—

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। (गीता १४। २५)

मान-अपमानमें तुल्य रहना बड़ी कठिन बात है। जरा-सी बातमें हमलोगोंका मान-भंग हो जाता है। आज प्रेमसे भी अनजानमें भी कहीं कोई अगर जरा-सी अपने मनकी कल्पनामें रूक्षता हो जाय तो हमें लगता है कि हमारा अपमान कर दिया। गुरुजीने अपमान कर दिया, हमारे भाईने अपमान कर दिया, पिताने-पतिने अपमान कर दिया। न मालूम क्या-क्या अपमानकी कल्पना करके मनमें मनुष्य दुःखी होता है।

कितना अपमान! जनकजीके यहाँ शुकदेवमुनिसे बैठनेके लिये भी नहीं कहा गया। जलके लिये भी नहीं पूछा गया। कुछ भी नहीं कहा गया। विलास-भवनमें सारी सामग्रियाँ उनके विलासके लिये मौजूद! परंतु कुछ भी विकार नहीं आया। परीक्षा हो गयी कि ये केवल मौखिक वेदान्ती नहीं हैं। ये केवल मौखिक ज्ञानी नहीं हैं। ज्ञान इनके जीवनमें उतर आया है। जो ज्ञानका परिणाम होता है वह इनके जीवनमें मूर्तिमान् है। तब जनकने कहा—महाराज! आप जो यह मानते हैं कि मुझे बोध नहीं है, ज्ञान नहीं है, इसको छोड़ दीजिये। आप ज्ञानवान् हैं, परंतु आपने जो मान रखा है कि अभी हमें बोध प्राप्त करना अवशेष है, बोध नहीं है, बस यही अवरोध है। इसको छोड़ दीजिये, आप बोधवान् हैं। वह तो वैसे भी छूटा हुआ था ही। जनकजीकी यह बात शुकदेवजीको तत्काल समझमें आ गयी।

कहना यह है कि जहाँ जीवनमें उतरी हुई चीज होती हे, वहाँ वह चीज तत्काल ठीक समझमें आ जाती है। इसके विपरीत जब हम केवल कहते हैं और बात जीवनमें उतरी नहीं रहती तो मैं सत्य कहता हूँ कि इससे कोई लाभ नहीं होता। जीवनमें लोगोंको समझानेके लिये बहुत चीज चाहिये, अपने समझनेके लिये उतनी नहीं। परंतु अपने जीवनमें जब हम उस चीजको नहीं उतार पाते तो हमारा कहना व्यर्थ होता है। सबकी बात नहीं कहता, मैं अपनी बात कहता हूँ। मेरे-जैसे कहनेवालोंसे आप-जैसे सुननेवालोंमें बहुत लोग बहुत ही अच्छे हैं। यह मुझे विश्वास है।

जब मैं आपलोगोंमेंसे किसी-किसीके साधनाकी बात सुनता हूँ तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि देखो न कैसे ये लोग हैं? चुपचाप सुनते हैं और चुपचाप कर रहे हैं तथा हमलोग कुछ नहीं करते। जीवनमें चीज उतरनी चाहिये। जब जीवनमें चीज उतरे तब जीवनकी सचाई है और जीवनमें उतरी हुई चीज उसी प्रकारका जीवन बना देती है। साधन जीवनका स्वरूप बन जाना चाहिये। सत्यवादी कौन? जो मूर्तिमान् सत्य हो। जिसको देखते ही सत्य याद आ जाय। जिसके सामने आनेसे यह बात हो कि यहाँ मिथ्या व्यवहार नहीं हो सकता, अपने-आप विश्वास हो जाय, वह सत्यवादी है।

युधिष्ठिर और दुर्योधनके बर्तावकी बात है, महाभारतकी नहीं, अन्यत्रकी है। युद्ध समाप्त हो गया। अब केवल दुर्योधनका वध शेष है। दुर्योधनके मरे बिना पाण्डवोंकी विजय कैसे होती? दुर्योधनका वध करनेके लिये भीमसेन कृतसंकल्प हैं और दुर्योधन बचना चाहते हैं। दुर्योधन माँके पास गया। गान्धारी मैयामें तो पातिव्रत्यका परम प्रताप था। एक बार क्रोधकी आँखोंसे उन्होंने देख लिया तो युधिष्ठिरके नख जल गये। इसी प्रकार उनका प्रबल तेज था। माँने तो पहलेसे ही आशीर्वाद देना बंद कर दिया था। जिस दिन द्रौपदीकी साड़ी उतरी, उस दिन माँ गान्धारीने कह दिया कि अब आशीर्वाद नहीं देना है। कौरवोंका विनाश होगा। कुलवधूपर उन्होंने अत्याचार किया है। वे नहीं बचेंगे। माँ गान्धारीके पास दुर्योधन पहुँचा और बोला—माँ, मैं बचना चाहता हूँ। गान्धारीके पास चीज थी पर अपने मुँहसे गान्धारी कैसे कहे? गान्धारीने कहा—बेटा बचना चाहते हो तो युधिष्ठिरके पास जाओ, उनसे पूछो।

यह समझमें आने लायक बात नहीं है; जिनसे साक्षात् युद्ध है, युधिष्ठिरकी विजय दुर्योधनके वधपर है। सारा युद्ध समाप्त हो चुका है। अब दुर्योधन अपना वध न होनेका उपाय पूछने जाय युधिष्ठिरके पास? यह बात किसी भी राजनीतिज्ञके समझमें नहीं आ सकती। मूलतः यह तो राजनीतिकी चीज नहीं, राजनीतिके संसारसे बिलकुल अलग चीज है। ऐसा भी कहीं हो सकता है क्या? कल्पनातीत बात है। दुर्योधनने माँकी बात मान ली। निर्भय हो दुर्योधन युधिष्ठिरके पास पहुँचा। युधिष्ठिरने स्वागत किया—आओ भाई! आओ, बैठो। बड़े प्रेमसे बैठाया। कहा—बोलो, भैया! मेरे लायक कुछ काम बताओ। इसपर दुर्योधनने कहा—भाई! एक कामसे

आया हूँ। युधिष्ठिर बोले—क्या काम? साफ कह दिया कि भीम मुझे मारना चाहता है और मैं बचना चाहता हूँ। आप कोई उपाय बतायें जिससे मैं बच जाऊँ, भीमसेन मुझे न मार सकें। मेरा सारा शरीर वज्रका हो जाय, मुझे कोई आघात न लगे। इसपर महाराज युधिष्ठिरने निःसंकोच और बड़ी सरलतासे कह दिया—उपाय है, भैया! माँ गान्धारीके पास जाओ और माँसे कह दो कि एक बार आँखोंकी पट्टी खोल दें और तुम वस्त्ररहित हो जाओ। माँ एक बार आँखोंसे तुम्हारे अङ्गोंको देख लेंगी तो तुम्हारे अङ्ग वज्रके हो जायँगे, फिर भीमकी ताकत नहीं कि तुम्हें मार सके। दुर्योधनने बात सुन ली। विश्वास हो गया इसलिये कि युधिष्ठिर झूठ नहीं बोलते, सत्य कहते हैं। युधिष्ठिरके सम्बन्धमें दुर्योधनके मनमें भी यह विश्वास है कि यद्यपि युधिष्ठिर मेरे शत्रु हैं फिर भी वे सत्य कहेंगे, झूठ नहीं बोलेंगे। इस विश्वासके आधारपर दुर्योधन गया था और युधिष्ठिरने सच्ची बात बता दी। दुर्योधन वहाँसे लौटने लगा तो भगवान् कृष्णने देखा कि थोड़ेमें बना-बनाया सारा काम खत्म हो जायगा। इसलिये युक्तिसे काम लिया।

वे दुर्योधनसे रास्तेमें मिले और पूछा—दुर्योधनजी! कहाँ पधारे थे? दुर्योधनने सत्य कह दिया कि मैं युधिष्ठिरके पास गया था। क्यों गये थे? बताया—यह पूछने गया था कि मेरा शरीर वज्रका कैसे होगा? भगवान्ने पूछा—उन्होंने क्या बताया? दुर्योधनने युधिष्ठिरकी बात ज्यों-की-त्यों बताते हुए कहा—माँ गान्धारीके सामने वस्त्रहीन होकर चले जाओ और माँसे कह दो कि पट्टी खोलकर एक बार देख लें तो पूरा शरीर वज्रका हो जायगा। भगवान् कृष्ण बोले—बिलकुल सत्य बात है। युधिष्ठिरने सत्य ही कहा है, माँ गान्धारीकी आँखमें यह शक्ति है, फिर भी दुर्योधनजी! आप इतने शूर-वीर, फिर आप मृत्युके भयसे इस अवस्थामें माँके सामने नंगे होकर जायँगे, शरम नहीं आयेगी आपको! दुर्योधनने कहा—महाराज! बात तो ठीक कही आपने। लेकिन इसके अतिरिक्त कोई उपाय भी नहीं दीखता। श्रीकृष्ण बोले—कोई बात नहीं, उनकी भी बात रह जाय और आपका भी काम हो जाय। इसलिये आप कटिसे नीचे और जहाँतक जंघा-प्रान्त ढक जाय, उतना वस्त्र पहन लें और फिर चले जायँ माँके पास। दुर्योधनने कहा—ठीक है। बात समझमें आ गयी। भगवान्‌की मायाका खेल था। दुर्योधनकी मति फिर गयी। युद्धसे पूर्व अर्जुनके साथ भी ऐसा ही हुआ था। वह

मोहके वशीभूत हो गया था, तब भगवान्ने कहा—'**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**' (गीता ११। ३३) हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्तमात्र बनो। तुम कौन करनेवाले हो, उसपर भी अभिमान करते हो कि युद्ध नहीं करूँगा, नहीं लड़ूँगा। मैंने इन सबको पहले ही मार रखा है। '**मयैवैते निहताः पूर्वमेव**' (गीता ११। ३३) देखना हो तो देख लो मेरी दाढ़ोंमें—'**चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः**' (गीता ११। २७) उत्तम-उत्तम सारे अङ्ग चूर्ण-विचूर्ण हो रहे हैं। तुम निमित्त हो। तुम कौन मारनेवाले और तुम कौन न मारनेवाले? युधिष्ठिर चाहे कह दें, चाहे गान्धारी देख लें, पर श्रीकृष्ण जो चाहते हैं वही होगा, दूसरा कैसे होगा?

दुर्योधनकी बुद्धि पलट गयी। जाँघियाँ पहनकर गया माँके सामने। माँसे कहा कि पट्टी खोलो। उस समय दुर्योधन उस बातको भूल गया कि भीमने प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारी जँघाको तोड़ूँगा। इसलिये युद्धका वह नियम—कटिसे नीचे गदा न मारनेका, यहाँ नहीं लागू हो सकता। भीमकी प्रतिज्ञा थी पर भूल गया, भगवान्की मायासे भूल गया। माँके सामने गया जाँघको ढककर। माँने आँख खोली और कहा—बेटा! रास्तेमें तुम्हें कृष्ण तो नहीं मिले थे? बोला—मैया! वही मिले थे। हाँ, मैया बोलीं कि उनकी इच्छा सफल हो। बेटा! तुम नहीं बच सकते। बादमें गदायुद्ध हुआ। भीमने जाँघपर गदा मारी। जाँघ टूट गयी। बलदेवजी आ गये। बलदेवजी उसके गुरु थे। दुर्योधनको गदा सिखलानेवाले पहलवान थे। बलदेवजीने कहा—भीमने क्या अनर्थ किया? सारा-का-सारा नियम तोड़ दिया, कटिके नीचे गदा मारी! इसपर भगवान् कृष्ण बोले—दाऊजी! जरा बात तो सुनो। भगवान्की यह बात सुनकर दाऊजी हँस पड़े। दाऊजीको श्रीकृष्णने पकड़ लिया और कहा—दाऊजी! सुनो, भीमने प्रतिज्ञा की थी; इसलिये कि भरी सभामें दुर्योधनने द्रौपदीसे कहा था—मेरी खुली जाँघपर नंगी होकर बैठ जाओ। उस समयसे भीमके हृदयमें आग लगी थी। उस समय आप होते तो क्या करते? भीमने प्रण किया था—इसकी जाँघको तोड़ूँगा, इसलिये तोड़ दी, इससे क्या पाप हुआ! दाऊजी बोले—भैया! तुम जानो तुम्हारा काम जाने, हम तो चलते हैं। दाऊजी चलते बने।

इस दृष्टान्तके कहनेका मेरा तात्पर्य सत्यसे और जीवनमें सत्यके मूर्तिमान् रहनेकी विशेषतासे था। युधिष्ठिरके सत्यपर शत्रुको भी विश्वास है कि वे झूठ नहीं बोलते। इससे एक और दूसरी सुन्दर बात समझमें

आती है कि हमलोग जो कुछ प्रयास करते हैं, यह प्रयास तो हमें करना ही चाहिये। अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये, पर संसारमें होगा वही जो रामने रच रखा है—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

(रा०च०मा०बाल० ५१/७)

हमलोगोंकी उलटी मति है। जो चीज विधिकी रची हुई है, उसे न मानकर सांसारिक हानि-लाभके लिये हम जीवनभर प्रयत्नवान् रहते हैं कि यह कर लेंगे, अबकी बार प्राप्त कर लेंगे और जो भगवान् पुरुषार्थसे प्राप्त होते हों, किंतु उनके लिये कहते हैं कि भाग्यमें होगा तो भजन करेंगे। भजन क्यों नहीं करते? वे बोले—भाग्यमें नहीं लिखा है तो क्या करें? और भाग्यमें धन लिखा था, इसका पता कैसे लग गया? जिसके लिये रात-दिन झूठ बोलते हो, कपट करते हो, गङ्गा बहाकर अपनेको धनी मानते हो? क्या पता लगा, कैसे पता लगा? पर यह मोह है।

इसलिये भगवान्पर विश्वास करना चाहिये। पाण्डवोंका भगवान्पर विश्वास था। न मालूम कितनी बार धर्मराजसे, कितनी बार अर्जुनसे इस प्रकारकी भूलें हुईं कि वे मर जाते; किंतु भगवान्को उन्हें रखना था तो आगे-से-आगे रक्षाकी योजना तैयार कर देते। एक बार कर्णने एक बाणका संधान किया। उस बाणकी नोकपर एक नाग आ बैठा जो अर्जुनका शत्रु था। कर्णने अभिमन्त्रित करके उस विषैले बाणको छोड़ा, निश्चित हो गया कि यह बाण अर्जुनके गलेमें लगेगा तो गलेको काटता हुआ आगे बढ़ जायगा। कहनेमें देर लगती है। बाण छूटा, श्रीकृष्णने यूँ जोर लगाया कि घोड़ोंके घुटने टिक गये। सर्रसे बाण निकला और अर्जुनके किरीटको जलाता हुआ चला गया। अर्जुन बच गये। यह किसको पता था कि अर्जुनके लिये ऐसा बाण आयेगा और भगवान् बचा लेंगे। भगवान्को पहलेसे पता था। ऐसे ही अर्जुनने प्रण कर लिया था कि यदि सूर्यास्ततक जयद्रथको नहीं मार सकूँगा तो सूर्यास्त होते ही मैं चिता जलाकर मर जाऊँगा? भगवान्ने कहा—अर्जुन! तुमने यह क्या प्रण कर लिया? देखो, इतने महारथी हैं, किसके बलपर तुमने प्रतिज्ञा कर ली। अर्जुनने कहा—महाराज! आपको छोड़कर मेरे पास दूसरा बल कौन-सा है? एक ही तो बल है—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।

एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली/२७७)

हम बहुतोंके बलका आश्रय करते हैं, बुद्धिबल, विद्याबल, कौशलबल और अपनी चतुराईका बल; पापका भी बल अपने साथ ले लेते हैं। परास्त हो जाते हैं, हार जाते हैं, मर जाते हैं। अर्जुनने कहा—प्रभो! एक ही बल है। बोले—कोई बात नहीं। रातभर भगवान् प्रलाप करते रहे। सबेरे युद्ध आरम्भ हुआ। अर्जुन बढ़े। रास्तेमें घोड़े थम गये। भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि अच्छा, एक काम करो। बाणोंका यहाँपर एक घेरा बनाओ, पृथ्वीसे बाण मारकर जल निकालो और यहीं मैं इन घोड़ोंको धोऊँगा, ठीक करूँगा। बाण मारा गया, जल निकला। भगवान्ने अपने हाथोंसे घोड़े धोये। फिर आगे बढ़े। देखा कि संध्या होनेवाली है। अभी जयद्रथ दूर है। संध्या हो चली। भगवान्ने सोचा अब कोई युक्ति करनी है। लोगोंने देखा कि सूर्यास्त हो गया। चिता जलायी गयी कि अर्जुन जल मरेंगे। कौरवपक्षमें हर्षका जय-जयकार होने लगा। आकाशमें उनके हर्षकी ध्वनि छा गयी। पाण्डवोंका महारथी अर्जुन आज मर रहा है। सारा पाण्डवपक्ष शोकनिमग्न हो गया। भगवान् चुपचाप खड़े हैं। सब लोग पास आ गये कि अर्जुनका मरना देखेंगे। अर्जुनका जलना देखेंगे, हर्षित होंगे। दुर्योधन भी आ गया और सब लोग भी आ गये। जयद्रथ भी पास आकर खड़ा हो गया। जैसे ही खड़ा हुआ, भगवान्ने अर्जुनसे कहा—बाणका संधान करो। अर्जुन बोले—महाराज! सूर्यास्त हो गया। बोले—चुप रहो। संधान करो बाण। खबरदार! एक बात और करना, इसका सिर काटकर नीचे न गिराना। अपनी बाण-विद्यासे उसे वहाँ ले जाना जहाँ इसके पिता अमुक सरोवरपर सूर्योपस्थान कर रहे हैं। उसकी अञ्जलिमें जाकर सिर गिरे। इतना उस समय बाण-विद्याका कौशल था। सारी व्यवस्था हो गयी। सामने खड़ा जयद्रथ हँस रहा है। दुर्योधन हर्ष-ध्वनि कर रहा है। अकस्मात् सूर्य निकल आया। सूर्य निकला, बाण छूटा, सिर कटा, सिर उड़ा और जयद्रथके पिताकी अञ्जलिमें गिरा। पिताका सिर भी कटकर नीचे गिर गया। पिता-पुत्र दोनों समाप्त हो गये। हर्षध्वनि दूसरी ओर बदल गयी। क्या हो गया, क्या हो गया? किसीने कहा कि कृष्णका जादू था। किसीने कहा कि बादल आ गये थे, हम लोग समझे नहीं। जो कुछ भी था वह था श्रीकृष्णका मात्र

अपने भक्तका कार्य।

इस प्रकार भगवान् अपने-आप रक्षा करते हैं। जो कुछ उनको करना होता है वही होता है, हमारे किये-कराये कुछ नहीं होता।

जीवनमें जो उपदेश हमें प्राप्त हो, वह हमारे जीवनमें पहले उतरे, उसकी बड़ी आवश्यकता है। सुनी हुई बात सब याद नहीं रहती। लोग कहते हैं कि हम सुनते बहुत हैं पर सब याद नहीं रहता। सब याद रहे कैसे? सब याद रखनेकी बात नहीं है। जिसके लिये जो बात आवश्यक हो उसे वह याद कर ले। उपदेश एक होता है, उसके अर्थ अनेक होते हैं। अपना अर्थ आप ले लें।

ब्रह्माजीके पास एकबार देवता, मनुष्य और राक्षस गये और बोले—महाराज! हमलोगोंके लिये उपदेश करें। ब्रह्माजीने पूछा—क्या आप तीनों उपदेश चाहते हैं? वे बोले—हाँ, महाराज! इसपर वे बोले—अच्छा, सुनो। 'द' 'द' 'द'। यही तीनोंके लिये उपदेश है। तदनन्तर उन्होंने देवताओंसे पहले पूछा—अच्छा, देवताओं बताओ, तुमने क्या सीखा हमारे उपदेशसे? देवताओंने कहा—महाराज, ठीक-ठीक सीख लिया। फिर पूछा—क्या सीख लिया? देवताओंने कहा—महाराज! हम स्वर्गलोकमें केवल भोग भोगते हैं, हम भोगोंके लिये स्वर्गमें जाते हैं। आपके 'द' इस अक्षरके उपदेशसे हमने दमन करनेकी बात सीखी है। 'द' से आपने हमें बताया है कि इन्द्रियोंका दमन करो, भोगोंसे मनको रोको। ब्रह्माजी बोले—आपलोगोंने ठीक कहा, अब आप जायँ। फिर ब्रह्माजीने मनुष्योंको बुलाया और उनसे पूछा—आप लोगोंने क्या सीखा? वे बोले—महाराज! आपने ठीक ही कहा है। हम कर्मयोनिमें हैं कमाते-ही-कमाते हैं। आप कहते हैं कमाते-कमाते ही मत रहो—दो अर्थात् दान करो। 'द' से आपने हमें बताया कि दान करो—देते रहो। ब्रह्माजी बोले—आपलोग ठीक कहते हैं, आपने ठीक ही समझा है, अब आप जायँ। तदनन्तर दैत्योंसे कहा—तुमने कुछ सीखा? वे बोले—महाराज! हमलोग बड़े निर्दयी हैं, बड़े क्रूर हैं। आपने 'द' उपदेशसे हमें कहा है—दया करो। ब्रह्माजी बोले—ठीक बात है। 'द' एक अक्षर था पर तीनों अधिकारियोंके लिये इसमें तीन अर्थ थे। ठीक ही अर्थ लिये गये। इसी प्रकारसे जैसे उन लोगोंने लिया वैसे ही जितने हमलोग सुननेवाले और कहनेवाले हैं, अपने-अपने मतलबकी चीज ले लें। जैसे कोई कहे

कि भाईजी! आपने उपदेशमें यह बताया था कि श्रीकृष्णने माखनकी चोरी की थी तो जब उन्होंने की थी तो हमारे करनेमें क्या आपत्ति है? हम तो जीवनभर चोरी करेंगे। यह नहीं सीखना है। अपने पापके समर्थनकी बात नहीं सीखनी है। इन्द्रियोंके दमनकी बात, मनके नियन्त्रणकी बात, भजन-ध्यानकी बात, सदाचारकी बात, भगवत्प्रेम-भक्तिकी बात, ज्ञान-वैराग्यकी बात—ये बातें जिनको जो रुचिकर लगें, सीख ले और सीखनेका अर्थ है जीवनमें उतार ले। बस, जो सुना ठीक वैसा बन गया और अगर बननेकी बात जीवनमें आ गयी तो यह एक ही बात, एक ही चीज रक्षा कर देगी। अगर एकको आप पकड़कर रख लें किसी एक अच्छे साधनको जैसे सत्यको तो वह सब साधनोंको ले आयेगा। यदि आपका निश्चय ठीक है और वह जीवनमें उतर गया तो बहुतकी आवश्यकता नहीं।

तुलसीदासजीने कहा कि हमारे पास तो कुछ है ही नहीं—

सकल अंग पद-बिमुख नाथ मुख नामकी ओट लई है।
है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामई है॥

(विनयपत्रिका/१७०)

हे नाथ! सारे अङ्ग आपके चरणोंसे विमुख हैं, केवल जीभने नामकी ओट ले रखी है। एक ही चीज हमारे पास है। वह क्या है? एक प्रतीति—एक विश्वास है कि प्रभुकी मूर्ति कृपामयी है। भगवान्‌का श्रीविग्रह केवल कृपासे बना है। यह एक चीज है। इस एकको मनमें बिठा ले। बस, हो गया काम। अभी आप मनमें निश्चय कर लें कि हम सत्यरूपमें भगवान्‌के शरणागत हो गये तो फिर भगवान् रक्षा करते हैं। भगवान् कहते हैं कि जो एक बार कह दे कि मैं आपका हूँ। नाथ! मैं तेरा हूँ, बस, तो वे कह देंगे कि मैंने तुम्हें अभय कर दिया। तुम मेरे हो गये—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतोभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकि रा० ६/१८/३३)

बहुत साधनोंकी आवश्यकता नहीं है। बहुत झंझटोंमें पड़नेकी जरूरत नहीं है। प्राणायाम भी करें, कुण्डलिनीका जागरण करें, राजयोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, निष्कामकर्मयोग क्या-क्या करें? बहुतसे योगोंमें पड़ेंगे तो सबसे वियोग हो जायगा।

इसलिये एक योग साधें। जिसको जो जँचे वही योग साधे बस, उसीको साधे।

'एकै साधे सब सधे सब साधे सब जाय'—इस सिद्धान्तको मान लें। एक साधनपर दृढ़ताके साथ लग जायँ। एकको पकड़ लें। वह एक सबको बुला लेगा। जिसकी जहाँ रुचि हो, जिसका जहाँ मन लगे, जिसको जो प्रिय लगे, जिसकी जैसी अधिकारकी भावना हो, जो जिसे कर सकता हो, वह उसे दृढ़तासे अपना ले। किसी छोटे बच्चेको कह दिया जाय कि तुम वेदान्त सीख लो तो कैसे बात बनेगी? उससे यही कहना ठीक रहेगा कि भैया! तुम 'राम-राम' कहो। मजेमें कीर्तन करो तो वह मजेमें कीर्तन करेगा। भगवान्‌ने शङ्खको ध्रुवके गालसे छुआ दिया उसी समय सारा ज्ञान-विज्ञान आ गया। यह ज्ञान तो भगवान् देंगे, ज्ञानके लिये चिन्ता मत करो। भगवान्‌को गरज होगी तो देंगे; हमें तो उनका नाम लेना है। सब बच्चे भगवान्‌का नाम लें तो भगवान् जब नामकी ध्वनि सुनते हैं तो बच्चोंमें बच्चा बनकर आ जाते हैं। लोग पहचानते नहीं कि यह कौन आ गया। ऐसा होता है। कई भक्तोंकी जीवनीमें भगवान् नये बच्चे बनकर खेलने आ गये, इसपर बच्चे कहते हैं कि अरे, यह कौन नया खेलने आ गया आज? लड़का है तो बड़ा प्यारा-प्यारा, पर कौन है? वह आकर मित्र बन जाता है और उनके साथ खेलता है। भगवान्‌को बच्चोंके साथ खेलनेमें मजा आता है। भगवान् तो देखते हैं कि कोई खेलनेवाला हो जो मेरे साथ खेलना चाहे। फिर वे यह नहीं देखते कि खेलनेवाला बड़ा भारी मुनिसत्तम—ऋषिसत्तम—देवोत्तम है या कोई छोटा बच्चा—निरीह बच्चा। भगवान् कहते हैं—मेरे साथ खेलना चाहते हो तो आओ हम-तुम खेलें।

धन्नाने रोटी बनायी। उसके बाबा कहते—देख बेटा धन्ना! ये ठाकुरजी हैं—इनको भोग लगाकर खाना। वह बोला—ठीक है बाबा! ऐसा कहकर वे चले गये। धन्ना—पाँच-छः वर्षका बच्चा, रोटी बनायी, भोग लगाने लगा। भगवान्‌के आगे भोग रख दिया और बोला—खा लो। भोग रखा है, खा लो। भगवान् खाये नहीं। रोज बाबासे खा लेता था, मुझसे क्यों नहीं खाता है। खा ले, खा ले। अरे, खाता क्यों नहीं है, बाबाने कहा है कि इनके खानेपर ही खाना। मैं भूखसे मर रहा हूँ और तू खाता नहीं। खा ले। भगवान्‌ने नहीं खाया। बोला—नहीं खाओगे तो हम भी नहीं खायेंगे। रोटी

उठाकर रख दी। दूसरा दिन हुआ तो फिर बोला—आज तो खा ले। फिर नहीं खाया तो बोला—देख तू बड़ा शरारती है, दो दिन मुझे भूखों मरते हो गये। तू भी भूखों मरता है और मुझे भी मारता है। आज देखता हूँ, अगर नहीं खाया तो कल रोटी बनाऊँगा ही नहीं या फिर अच्छी तरहसे तुम्हारी खबर लूँगा। तीसरे दिन फिर रोटी बनी। भगवान्‌से कहा—खाता है कि नहीं, छड़ी लाऊँ या फिर कलसे बनाना ही छोड़ दूँगा। लीलाबिहारी भगवान्‌ने चुपकेसे कहा—अच्छा, आओ खा लेते हैं। बुद्धिवादी नहीं मानेंगे इस बातको। जो बुद्धिवादी मनुष्य है वह कहेगा कि यह तो बिलकुल कल्पना है, ऐसा कभी हो सकता है क्या? हो क्यों नहीं सकता? जगत्‌में रोज बच्चे-बड़े, सभी रोटी खाते हैं तो वे क्यों नहीं खा सकते? भगवान्‌का अर्चावतार होता है। मूर्तिमें अवतार होता है। अगर विश्वास हो तो अर्चावतार होता है। मीराके साथ भगवान् बोलते थे, बातचीत करते थे, हमारे साथ नहीं करते, इसलिये कि हमें विश्वास नहीं है। हम पत्थर मानते हैं तो क्यों करेंगे? एक आदमी रोज ठाकुरजी—गोपालजीकी पूजा करता था। बहुत दिन हो गये, ठाकुरजी बोले नहीं। ठाकुरजीका भोग लगा दे और अपने-आप खा ले। हम सब लोग ऐसा ही करते हैं—ठाकुरजीका भोग लग गया, चलो खा लें। क्या हुआ कुछ नहीं। ठाकुरजी राजी हो जाते हैं। वे देखते हैं कि रोज ऐसे ही करते हैं। बोले—ठाकुरजी खाते थोड़े ही हैं। ऐसा ठाकुरजीको खिलानेवाला नहीं, केवल भोग लगानेवाला मानता है। उनसे पूछा गया तो बोले—जयपुरसे मूर्ति लाये थे। बड़ी सुन्दर मूर्ति है पर वे खाते थोड़े ही हैं, भोग लगाना है। क्या भगवान् भोग-वासनाके भूखें हैं? अरे, मूर्तिमान् करके उनको बैठाया नहीं, विश्वास नहीं किया तो कैसे खाते? 'खाते नहीं' यह कैसी बात है? वे तो खाते भी हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

ऐसा भगवान्‌ने स्वयं कहा है—जो भक्तिसे मुझे पत्र-पुष्प, फल, जल आदि देता है, मैं उसे अवश्य ग्रहण करता हूँ। सुदामाके आख्यानमें यही श्लोक आया है कि भगवान्‌ने मुट्ठी भरकर चिउड़ा खा लिया।

धन्नामें तो यह बात थी नहीं। उसे तो विश्वास था कि ठाकुरजी

जरूर खायेंगे तो भगवान्‌ने खा लिया। अब वह रोज भोग लगावे और भगवान् रोज खायँ। यह देख धन्ना बोला—देख! तुमने इतनी बदमाशी क्यों की? तीन दिनतक खुद भूखे मरा और मुझको भी भूखा मारा। यह भी कोई अच्छे आदमी—भले आदमीकी बात है? पहले ही खा लिया होता। यह सुनकर भगवान् हँसने लगे। अब वे रोज खाने लगे। धन्नाके बाबा आये और पूछने लगे—पूजा ठीकसे की? हाँ बाबा! ठीकसे की। भोग लगाया? बोला—भोग क्या लगाया, यह तुम्हारा ठाकुर है न, यह बड़ा शरारती है। पूछा—कैसे? बताया कि तीन दिनतक इसने भूखों मारा। दो दिन तो रोटी फेंकनी पड़ी और तीसरे दिन जब मैंने धमकाया कि या तो छड़ी लाऊँ या रोटी बनाऊँगा ही नहीं, तब चुपके-से आकर बात मान ली, खाने लगा। धन्नाके बाबाने देखा कि लड़का कुछ पागल हो गया मालूम होता है। यह कैसी बेमतलबकी बातें करता है। छड़ी दिखायी और धमकाया तो क्या खाने लगा? हाँ बाबा, यही हुआ। इसपर बोले—कैसी बात करता है? बोला—कैसी बात क्या बाबा, इसने तीन दिनतक बड़ा हैरान किया। फिर पूछा—तो क्या अब खाता है? बोला—हाँ, खाता है, रोज खाता है, साथ खाता है। बाबा बोले—आज खिला। धन्ना बोला—हाँ, अभी लो। वह जल्दीसे पूरी बनाकर लाया। बोला—खा ले। बाबाके सामने मुझे झूठा करेगा तू। रोज खाता है, आज नहीं खायेगा? आ जल्दीसे। कहा तेरा बाबा ऐसा मानता नहीं। कहा—तेरे आनेसे मान लेगा। इतना कहना ही था कि भगवान् आ गये। फिर क्या था, मजेमें दोनोंने खाया। धन्य है धन्ना। धन्ना कहीं बड़ा होता। पढ़ा-लिखा ज्यादे होता। दार्शनिक होता, पण्डित होता तो उसकी समझमें यह बात आती ही नहीं कि भगवान् बच्चे बनकर कभी खा सकते हैं। वह समझता युक्तियोंसे, तर्कसे, न्यायसे, सब जगहसे लगाता कि कौन-सी बात युक्तिसंगत है। इसमें कौन-कौन प्रमाण हैं? प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आप्त प्रमाण है कि अनुमान प्रमाण है? कैसे सिद्ध किया जाय? क्यों माना जाय, इसकी कैसे सिद्धि होगी? आदि-आदि। पर विश्वासमें तो सिद्धि-असिद्धि कुछ नहीं होती। वहाँ तो खा ले तो सिद्धि और न खाये तो असिद्धि। सीधी-सी बात है।

ऐसे ही बच्चोंमें बच्चे बनकर कौन खेलते हैं? वही भगवान् जो बच्चोंमें बच्चे बने हुए हैं। बूढ़े बने हुए ये कौन हैं? महात्मा बने हुए

ये कौन हैं? हम तो अपने-आप अपना अज्ञान प्रकट करते हैं। भगवान् ऐसा नहीं कर सकते। सब तो उन्हींका रूप है। ईसाइयोंके मतमें एक भगवान् है और एक शैतान है। इस प्रकार दोकी सत्ता है, पर हमारे यहाँ शैतान भी भगवान् बन जाता है। अलग सत्ता नहीं है—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

(गीता ७। १२)

महाकाल बनकर जो सारे जगत्को खाता है, वह कौन है? नहीं समझमें आता है तो भगवान् श्रीकृष्णके शब्द देख लो—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

(गीता ११। ३२)

मैं काल हूँ, काल और सबको खा जानेके लिये प्रकट हुआ हूँ। सबको खा जानेवाला भगवान्। सबको प्रकट करनेवाला भगवान्। सबका पालन करनेवाला भगवान् तो बच्चोंके साथ खेलनेवाला भी भगवान्। विश्वाससे प्रकट होकर धन्नाकी रोटी खानेवाला भी भगवान्। प्रह्लादको गोदमें लेनेवाला भी भगवान्। ध्रुवको पाँच वर्षकी अवस्थामें दर्शन देनेवाला भी भगवान्।

इसलिये विश्वासपूर्वक अपने जीवनमें किसी एक चीजको उतार लेना चाहिये। भगवान्के प्रत्यक्ष होनेमें विलम्ब नहीं है। निष्ठापूर्वक भगवान्को पुकारनेमें और चाह करनेमें विलम्ब है। जिस भावसे जिसको भगवान्की चाह हो उसी भावसे सच्चे हृदयसे निष्ठावान् होकर, एक होकर, एकका होकर भगवान्को पुकारे तो फिर भगवान् न कभी दूर थे, न कभी दूर हैं, न दूर हो सकते हैं। दूर उनके लिये हैं जो बहुत दूर मानते हैं। दुर्लभ उनके लिये हैं जो बहुत दुर्लभ मानते हैं। जो कहते हैं कि भगवान् यहीं हमारे साथ खेलता है तो सचमुच उसके साथ खेलते हैं। व्रजके बच्चोंको कभी वहम हुआ ही नहीं। जब अघासुरके पेटमें—अजगरके पेटमें जाने लगे तो किसीने कहा कि अगर अजगर हुआ तो? दूसरेने कहा कि डर काहे का, कन्हैया तो साथ है। कितना विश्वास है कन्हैयापर। आग लगी तो बोले—कन्हैया कहाँ गया? कन्हैया आगको खा जायगा। सचमुच कन्हैया आगको खा गया। कन्हैयाको छोड़कर दूसरा कोई बचानेवाला नहीं है। जो मौतमें भगवान्को देख लेता है, उसको मौत मार नहीं सकती। प्रह्लादका

इतिहास इसका साक्षी है।

प्रह्लादके सामने मौत कई बार आयी। मौतको हिरण्यकशिपुने नाना रूपोंमें प्रह्लादके सामने भेजा, पर प्रह्लादको मौत मार नहीं सकी। क्यों नहीं मार सकी? इसलिये कि मौतमें मौतपना जिसका दिया हुआ है, वही जब रक्षक हो जाता है तो फिर कौन मारे? 'केनोपनिषद्' की कथा आप सब जानते हैं। अग्निका अग्निपना नहीं रहा, वायुका वायुपना नहीं रहा। वे छोटे-से तृणको न जला सके, न उड़ा सके। इसलिये कि बात भगवान्‌की थी। तृणरूपमें भगवान् ही वहाँपर थे।

इसलिये एकनिष्ठ होकर अपने जीवनमें उस वस्तुको उतारकर जीवन वैसा बना दे। ज्ञानी बने, भक्त बने, कर्मी बने, निष्कामकर्मी बने या जिसको जो अच्छा लगे सो बने पर भगवान्‌के लिये बने और जो बने उसीमें पातिव्रत्यके समान धर्मका पालन करे। बस, यह एक ही मेरा पति है। दूसरा इससे अच्छा भी हो तो उससे हमें मतलब नहीं। हमारा तो यही पति है—हमारा तो यही स्वामी है।

इसी प्रकारकी निष्ठा रहे और साथ-साथ उस निष्ठामें श्रद्धा भी रहे। जो बात-बातमें अपने मनकी चाहता है, वह साधक नहीं बन सकता। साधक तो अपने मनको खोनेवाला होता है। साधक तो अपने मनको खोकर साधनके मनकी बात करनेवाला होता है। साधन जो कहे अर्थात् उसका भगवान् जो चाहे वही उसका मन है। अपना मन कहीं बीचमें आये तो साधना नहीं हो सकती।

जो कुछ वहाँसे आज्ञा हो गयी, इशारा हो गया, संकेत मिल गया, बस; वही जीवन है। इसलिये साधक अपने जीवनमें नियमानुवर्तिताके साथ सदाचारका, सत्यका, जो बात सुने, उसे अपने जीवनमें उतार ले, चाहे वह कोई भी बात हो। सत्य बात हो तो वह बात भगवान्‌तक पहुँचा देगी।

******



॥ श्रीहरिः ॥

गीतावाटिका प्रकाशन

पो०–गीतावाटिका, गोरखपुर–२७३००६

फोन : (०५५१) २२८४७४२, २२८२१८२

E-mail : rasendu@hotmail.com

हमारे प्रकाशन

१. श्रीभाईजी–एक अलौकिक विभूति संयोजक–श्रीश्यामसुन्दरजी दुजारी	(पू.श्रीभाईजी एवं पू. श्रीसेठजीकी संक्षिप्त जीवनी)	६०.००
२. भाईजी चरितामृत संयोजक–श्रीश्यामसुन्दरजी दुजारी	(पू० श्रीभाईजीके शब्दोंमें उनके जीवन प्रसंग)	५०.००
३. भाईजी पावन स्मरण	श्रीगोपनाथजी कविराज	३००.००
४. सरस पत्र	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
५. व्रजभावकी उपासना	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	२५.००
६. परमार्थकी पगडंडियाँ	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
७. सत्संगवाटिकाके बिखरे सुमन	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
८. वेणुगीत	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३५.००
९. समाज किस ओर जा रहा है	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
१०. प्रभुको आत्मसमर्पण	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
११. भगवत्कृपा	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	५.००
१२. श्रीराधाष्टमी जन्म–व्रत महोत्सव	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	५.००
१३. शान्तिकी सरिता	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	२०.००
१४. रासपंञ्चाध्यायी	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३५.००
१५. पारमार्थिक और लौकिक सफलताके सरल उपाय	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	२५.००
१६. क्या, क्यों और कैसे?	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
१७. साधकोंके पत्र	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
१८. रोगोंके सरल उपचार (सम्पादक)	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३५.००
१९. भगवन्नाम और प्रार्थनाके चमत्कार	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२०. मेरी अतुल सम्पत्ति	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	१०.००
२१. श्रीशिव–चिन्तन	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	२५.००

२२. अन्तरंग वार्तालाप	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२३. भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर बाललीलायें	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	२५०.००
२४. यज्ञपत्नियों पर कृपा	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२५. रस और आनन्द	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२६. भगवत्कृपाके अनुभव	सम्पादक—भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२७. योग एवं भक्ति	सम्पादक—भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२८. भारतीय नारी	सम्पादक—भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२९. भगवत्कृपाके चमत्कार	सम्पादक—भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
३०. आस्तिकताकी आधार—शिलाएँ	श्रीराधा बाबा	३५.००
३१. महाभागा व्रजदेवियाँ	श्रीराधाबाबा	३०.००
३२. केलि—कुञ्ज	श्रीराधाबाबा	७०.००
३३. परमार्थके सरगम	श्रीराधाबाबा	३०.००
३४. पद—रत्नाकर——एक अध्ययन	श्रीश्यामसुन्दरजी दुजारी	३०.००
३५. दिव्य हस्तलिखित संकेत	संयोजक—श्रीश्यामसुन्दरजी दुजारी	५०.००
३६. श्रीराधा—गुण—गान		३०.००
३७. श्रीकृष्णजन्माष्टमी—महोत्सव	संकलनकर्ता—श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी	१०.००
३८. श्रीराधाकृष्णकी मधुर लीलायें		३०.००

हमारे प्रकाशन एवं कैसेट प्राप्तिके अन्य स्थान

गोरखपुर :—श्रीहरिकृष्ण दुजारी, पो०.—गीतावाटिका, गोरखपुर, फोन—२२८४७४२

कलकत्ता :— श्रीसुशीलकुमार मूँधड़ा, ८, इण्डिया एक्सचेंज प्लेस, (८ वाँ तल्ला)
फोन० २४६४०६००, २४६६२६४१
२—श्रीकमलकुमार अग्रवाल, ४२, विवेकानन्द रोड, कोलकाता—७,
फोन—२२७२८०७,

वाराणसी :——श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार स्मृति सेवा ट्रस्ट, दुर्गाकुण्ड रोड

दिल्ली :—— श्रीमोहनलाल दुजारी ५०४, स्काईलार्क, ६० नेहरू प्लेस, दिल्ली—१६
फोन—२६४३८६०५, २६४६५२८४

गाजियाबाद :——श्रीशिवकुमार दुजारी के०आई० १५५, कविनगर, गाजियाबाद—२
फो०—(०१२०) २७०३११३

वृन्दावन :——खण्डेलवाल एण्ड सन्स, अठखम्भा बाजार, वृन्दावन
फोन : (०५६५) २४४३१०१ (आ), २४४२१०० (नि०)

स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश):——श्रीविष्णु पुस्तक भण्डार, स्वर्गाश्रम

मथुरा— श्रीकृष्ण जन्मभूमि सेवा संस्थान, फोन—२४२३७१४

जयपुर— श्रीहरिः पुस्तक प्रचार केन्द्र, बुलियन बिल्डिंग, हल्दियोंका रास्ता,
जौहरी बाजार, जयपुर—३०२००३, फोन— २५७०६०२

भाईजी पूज्य श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके भावपूर्ण, प्रवचनों एवं पदोंकी कैसेट सूची

श्रीमद्भागवत–कथा

१ से ४४ श्रीकृष्ण बाललीला कैसेट सेट
१ से ११ वेणुगीत प्रवचन माला कैसेट सेट
१ से १० रासपंचाध्यायी प्रवचनमाला

अन्य प्रवचन

१. भागवत्कृपा का आश्रय लीजिये
२. प्रेमका सच्चा स्वरूप
३. शरणगति और प्रेमके भाव
४. गोपीप्रेमका स्वरूप
५. भगवान्‌की गोद सबके लिये सुलभ
६. साधकका लक्ष्य और मार्ग
७. भगवत्कृपाकी अनूठी व्याख्या
८. प्रेमके भावोंकी अनोखी व्याख्या
९. आँखोंमें श्याम समा जायें
१०. वैराग्य और प्रेमका रिश्ता
११. अपनी साधनाके अनुकूल संग करें
१२. भगवान् हमारी सारी जिम्मेदारी लेनेको तैयार
१३. शान्ति कैसे मिले ?
१४. भगवत् अनुराग और विषयानुराग
१५. रस और आनन्दमें चूर हो जावें
१६. हमारी चिन्ता कैसे दूर हो ?
१७. भगवान्‌पर विश्वास कर, उनके हो जावें
१८. व्यवहारकी बातें
१९. प्रेमी बननेके अमोघ साधन
२०. भगवन्नामकी अनुपम महिमा
२१. शरणगति–सरल साधन
२२. साधनकी उपयोगी बातें
२३. असली प्रेम त्यागमें ही है सुंदर व्याख्या
२४. साधनाके विघ्नः भय–प्रलोभन
२५. अन्तरंगता का स्वरूप और साधना
२६. चेतावनी–बहुत गई थोड़ी रही
२७. भोगोंसे मन हटाकर भगवान्में लगाओ
२८. हमारा काम तुरंत कैसे बनें
२९. भक्तिके पाँच रस सुंदर व्याख्या
३०. भगवान्‌की प्रेम परवशता
३१. भगवत्प्राप्तिका सुख
३२. दिन भर कार्य भगवान्‌की सेवा–भावसे करें
३३. इन्द्रियोंका संयम एवं परहित
३४. मानव जीवनके लक्ष्यकी प्राप्ति
३६. श्रीकृष्ण–जनमाष्टमी प्रवचन सं० २०१७ एवं श्रीगोस्वामीजी द्वारा पदगायन
३७. जन्माष्टमीके दूसरे दिनका प्रवचन २०१७
३८. सारे कर्मोसे भगवान् की पूजा करें
४१. अपने सदाचरणों द्वारा दूसरोंमें सद–भावों का उन्नयन
४२. श्रीकृष्णके वन भोजन लीलाका ध्यान
४३. श्रीराधाष्टमी प्रवचन सुबह सं० २०१७
४४. श्रीराधाष्टमी प्रवचन शाम सं० २०१७
४५. भगवान् हमारे अपने हैं
४६ए. असली प्रेमकी पहचान
४६बी. निरन्तर भगवत्स्मृति कैसे हो सकती है
४७ए. भजन और भगवान्‌की आवश्यकता
४७बी. अच्छे व्यवहारकी महत्ता
४८. शरद् पूर्णिमापर प्रवचन
४९. शरद् पूर्णिमापर पू० राधाबाबा का संदेश
५०. प्रेम मार्गमें बढ़नेके सहायक सूत्र

पू० भाईजी विरचित 'पद–रत्नाकर' से चुने हुए पद

३०१. प० पू० भाईजी द्वारा गाये हुए पद
३०२. मारवाड़ी बोलीके पद (नाथ मैं थारो जी थारो आदि)
३०३. होली लीलाके सरस पद
३०४. श्रीराधा जन्म महोत्सवके सरस पद
३०५. (षोडश गीत) राधा–कृष्णके समर्पणके पद (रासधारी पं० श्रीरामस्वरूपजी द्वारा)
३०६–३०६ए ब्रजरसके सरस पद (द्वारा)
३०७. भ्रमरगीतके सरस पद
३०८–३११. भावपूर्ण पद (पू०श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी द्वारा)
३१२. चुने हुए भावपूर्ण (श्रीघनश्यामजी ठाकुर वृन्दावनवालों द्वारा)
३१३. सरस पद (श्रीघनश्यामजी द्वारा)
३१४. सरस पद श्रीहरिवल्लभजी गोवर्धन वालों द्वारा
३१५. पू०श्रीगोस्वामीजी द्वारा जयगान राधाष्टमीपर
३१६. रास–पंचाध्यायीका मूल पाठ पू० गोस्वामीजी द्वारा
३१७–३१८. गायनाचार्य 'पं० श्रीजसराजजी' द्वारा चुने हुए मधुर पद
३१९–३२३. चुने हुए सुमधुर पद एवं कीर्तन–नील मणि राठी द्वारा
३२४. चुने हुए मधुर पद (पं० श्रीसतीशजी शास्त्री)
३२५. कीर्तन हरे राम हरे राम (पू०श्रीभाईजी द्वारा)
३२६. कीर्तन जय राधे जय राधा (श्रीभाईजी द्वारा)

रस-सिद्ध संत श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार की जीवन झाँकी

भगवान्‌के 'विशेष कार्य' हेतु १७ सितम्बर १८९२ ई०, दिन शनिवारको आपका जन्म शिलांगमें हुआ। कुल देवता श्रीहनुमानजीकी कृपासे जन्म होनेके कारण आपका नाम 'हनुमानप्रसाद' पड़ा। युवावस्थामें देशसेवा–समाजसेवाकी प्रवृत्ति प्रबल होनेके कारण स्वदेशी आन्दोलनमें शुद्ध खादी प्रयोगका व्रत ले लिया। आपके क्रान्तिकारी गतिविधियोंमें सक्रिय भाग लेनेके कारण शिमलापालमें २१ माहतक नजरबन्द किया गया। बंगालके क्रांतिकारियों अरविन्द घोष आदिसे आपका निकट सम्पर्क हुआ। १९१८ में आप बम्बई आ गये। वहाँ लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, महात्मा गाँधी, पं० मदनमोहन मालवीय, संगीताचार्य विष्णु दिगम्बरजीसे घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। सभीके द्वारा प्रेमपूर्वक आपको भाई सम्बोधन करनेके कारण आपका उपनाम 'भाईजी' पड़ गया।

भगवन्नामनिष्ठाके फलस्वरूप वनवेषधारी भगवान् सीतारामके दर्शन हुये तदनन्तर पारसी प्रेतसे साक्षात् वार्तालापके परवर्तीकालमें अनेक दिव्यलोकोंसे सम्पर्क स्थापित किये। सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका 'कल्याण'के १९२६ ई०में प्रकाशन प्रारम्भ होनेपर उसके सम्पादनका गुरुतर दायित्व आपने सफलतापूर्वक निर्वाह किया और अपने भगीरथ प्रयत्नोंसे उसे शिखर पर पहुँचाया।

श्रीभाईजीमें अपने यश प्रचारका लेश भी नहीं था इसी कारण उन्होंने 'रायबहादुर', 'सर' एवं 'भारत–रत्न' जैसी राजकीय उपाधियोंके प्रस्तावको नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा उनकी अमूल्य हिन्दी–सेवाके सम्मानार्थ प्रदत्त 'साहित्य–वाचस्पति'की उपाधिका अपने नामके साथ कभी प्रयोग नहीं किया। हालाँकि भाईजीकी शिक्षा पारिवारिक, पारम्परिक ही रही लेकिन यह चमत्कार है कि कई भाषाओंपर उनका असाधारण अधिकार था। उनके द्वारा हिन्दी साहित्यको मौलिक शब्दोंका नया भण्डार मिला। उनकी गद्य–पद्यात्मक रचनायें अपने विषयकी मीलकी पत्थर है। पोद्दारजीके प्रमुख काव्य 'पद–रत्नाकर'की कुल पंक्तियाँ १६६७० है जो गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा विरचित श्रीरामचरितमानस, विनय पत्रिका और गीतावलीकी कुल पंक्तियों क्रमशः १२५८२, ३२२६ और ३४०२ के योग १९२०५ से अधिक है। इसके अतिरिक्त उनके गद्य साहित्यका विपुल भण्डार है। इनकी ६० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिसमें 'राधा–माधव–चिन्तन' प्रमुख है। उनके द्वारा सम्पादित 'कल्याण'के ४४ विशेषांक अपने विषयके विश्वकोष हैं। हमारे आर्ष ग्रन्थोंको विपुल मात्रामें प्रकाशित करके विश्वके कोने–कोनेमें पहुँचा दिया जिससे वे सुदीर्घ कालके लिये सुरक्षित हो गये। हिन्दी और सनातनधर्मकी उनकी सेवा युगोंतक लोगोंके लिये प्रेरणाश्रोत रहेगी।

भगवद्दर्शनकी प्रबलोत्कण्ठा होनेपर १६२७ ई० में भगवान् विष्णुने दर्शन देकर उन्हें प्रवृत्तिमार्गमें रहते हुये भगवद्भक्ति तथा भगवन्नाम प्रचारका आदेश दिया। क्रमशः दिव्यलोकोंसे सम्पर्कके साथ ही अलक्षित रहकर विश्वभरके आध्यात्मिक गतिविधियोंके नियामक एवं संचालक दिव्य संत–मण्डलमें अन्तर्निवेश हो गया। कृपाशक्तिपर पूर्णतया निर्भर भक्तपर रीझकर भगवान्ने समय–समयपर उन्हें श्रीराम, शिव, शक्ति, गीतावक्ता श्रीकृष्ण, श्रीव्रजराजकुमार एवं श्रीराधाकृष्ण दिव्य युगलरूपमें दर्शन देकर तथा अपने स्वरूप तत्त्वका बोध कराकर कृतार्थ किया। १६३६ ई० में गीतावाटिकामें प्रेमभक्तिके आचार्य देवर्षि नारद और महर्षि अंगिरासे साक्षात्कार हुआ और उनसे प्रेमोपदेशकी प्राप्ति हुई। अपने इष्ट आराध्य रसराज श्रीकृष्ण और महाभावरूपा श्रीराधा किशोरीकी भाव साधना, स्वरूप चिन्तनसे उनकी एकाकार वृत्ति इष्टके साथ प्रगाढ़ होती गयी और वे रसराजके रस–सिन्धुमें निमग्न रहने लगे। भागवती स्थितिमें स्थित होनेसे उनके स्थूल कलेवरमें श्रीराधाकृष्ण युगल नित्य अवस्थित रहकर उनकी सम्पूर्ण चेष्टाओंका नियन्त्रण–संचालन करने लगे। सनकादि ऋषियोंसे उनके वार्तालाप अब छिपी बात नहीं है।

भगवत्प्रेरणासे भाईजीने अपने जीवनके बाह्यरूपको अत्यन्त साधारण रखते हुये इस स्थितिमें सबके बीच ७८ वर्ष रहे। कुछ श्रद्धालु प्रेमीजनोंको छोड़कर उनके वास्तविक स्वरूपकी कोई कल्पना भी नहीं कर सका। जो उनके निकट आये वे अपने भावानुसार इसकी अनुभूति करते रहे। किसीने उन्हें विद्वान् देखा, किसीने सेवा–परायण, किसीने आत्मीय स्नेहदाता, किसीने सुयोग्य सम्पादक, किसीने सच्चा सन्त, किसीने उच्चकोटिका व्रजप्रेमी और किसीको राधा हृदयकी झाँकी उनके अन्दर मिली। किसी संतकी वास्तविक स्थितिका अनुमान लगाना बड़ा कठिन है तथापि भाईजी निर्विवाद रूपसे उस कोटिके सन्त थे जिनके लिये नारदजीने कहा है **'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'**—भगवान् और उनके भक्तोंमें भेदका अभाव होता है।

हमारी भावी पीढ़ियोंको यह विश्वास करनेमें कठिनता होगी कि बींसवी सदीके आस्थाहीन युगमें जो कार्य कई संस्थायें मिलकर नहीं कर सकतीं वह कल्पनातीत कार्य एक भाईजीसे कैसे सम्भव हुआ। राधाष्टमी महोत्सवका प्रवर्तन और रसाद्वैत—राधाकृष्णके प्रति नयी दिशा एवं मौलिक चिन्तन इस युगको उनकी महान देन है। उनके द्वारा कितने लोग कल्याण पथपर अग्रसर हुये, वे परमधामके अधिकारी बने इसकी गणना सम्भव नहीं है। महाभाव–रसराजके लीलासिन्धुमें सर्वदा निमज्जन करते हुये २२ मार्च १६७१ को इस धराधामसे अपनी लीलाका संवरण कर लिये।

'वन्दे॰ महापुरुष ते चरणारविन्दम्'

******

'हे कृष्ण! हे श्यामसुन्दर!! जबतक तुम्हारे नहीं हो जाते, तबतक ही राग–द्वेषरूपी चोर पीछे लगे रहते हैं। तभीतक यह घर जेलखाना बना रहता है और मोहकी बेड़ियाँ पैरों में पड़ी रहती हैं। जब तुम्हारे हो गये तब राग–द्वेषरूपी चोर भाग जाते हैं। घरका जेलखाना टूट जाता है और पैरोंकी बेड़ियाँ कट जाती हैं।' जबतक भगवान् नहीं आते तभीतक ये चीजें हैं। यह कसौटी है। अगर हमारे मनमें भगवान्‌की चाह है तो वह चाह जगत्‌की चाहको खा जायगी। उसकी एक बार झाँकी आ जाय तब दूसरी झाँकी पसन्द आयेगी ही नहीं।

(........इसी पुस्तक से)